पुस्तक प्राप्ति-स्थान—
पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ,
मंत्री—श्री आचार्य सूर्यसागर दि. जैन ग्रन्थमाला समिति,
मनिहारों का रास्ता, जयपुर सिटी।

श्री आचार्य सूर्यसागर दि. जैन ग्रन्थमाला

नवम–पुष्प

श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य—

श्री सूर्यसागरजी महाराज विरचित

संयम—प्रकाश

उत्तरार्द्ध—चतुर्थ—पञ्चम किरण

सामायिकादि परिग्रह त्याग प्रतिमाधिकार

एवं

उत्तम नैष्ठिक साधकाधिकार

सम्पादक— श्री पं. भँवरलाल जैन, न्यायतीर्थ

प्रकाशिका—

श्री आचार्य सूर्यसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति,

जयपुर।

प्रथम संस्करण
१९५०

वीर नि. संवत्
२४७७

मूल्य—
पूरे ग्रन्थ का २०) रुपया।
इस किरण का ३॥) रुपया।

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ संख्या

विषय-सूचि

विषय	पृष्ठ संख्या
उत्तम नैष्ठिक साधकाधिकार	७२३
मंगलाचरण	,,
साधक कौन है	,,
साधक के तीन भेद	,,
(१०) अनुमति त्याग प्रतिमा का स्वरूप	,,
(११) उद्दिष्ट त्याग का प्रतिमा स्वरूप	७२५
एकादश प्रतिमाधारी के वस्त्र	७२६
उद्दिष्ट विरती श्रावक के भेद	७२७
क्षुल्लक के कर्त्तव्य	,,
क्षुल्लक के दो भेद	,,
दोनों क्षुल्लकों में भेद	७२८
क्षुल्लक की भोजन विधि	७२९
उत्तम श्रावक का स्वरूप	७३१
ऐलक का स्वरूप	,,
ऐलक भोजन कैसे करे	,,
ऐलक बैठकर भोजन करे	७३३
क्षुल्लक व ऐलक केशलोंच कब और कैसे करे	७३४
ऐलक भोजन में लालसा न करे	७३५
व्रती किन के यहाँ भोजन को न जावे	७३६
भोजन के समय न करने योग्य कार्य	७३७
कौनसा साधु एकल विहारी होसकता है ?	,,
क्षुल्लिका के लिए विधान	७३८
व्रती का निवास बन में है	७३९
ऐलकादि के लिए विशेष विधान	७४०
किस प्रतिमा में कौन २ से व्रत निर्दोष होते हैं	७४२
सल्लेखना	७४४
मरण के भेद	७४३
सल्लेखना आत्मघात नहीं है	७४७
सल्लेखना धारी के कर्त्तव्य	७४८
पांच प्रकार का शुद्धि विवेक	७४९
समाधि मरण के अतिचार और उनका स्वरूप	७५०
देशव्रती और श्राविकाएँ मुनिवत् समाधिमरण करसकती है	७५१
शव को कैसे लेजाया जाय	,,
व्रतियों के मरण समय की क्रिया	७५२
अग्नि शुद्ध कैसे हो ? दाह क्रिया के मंत्र	,,
दाह क्रिया करने वाले का कर्तव्य	७५३
नैष्ठिक साधकाधिकार की समाप्ति	,,

संयम प्रकाश महाग्रंथ की समाप्ति

७५४

संयम—प्रकाश

उत्तरार्द्ध

चतुर्थ किरण

☆ सामायिकादि परिग्रहत्याग प्रतिमाधिकार ★

❀ मङ्गलाचरण ❀

सर्वमङ्गलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

इस किरण में सामायिकादि परिग्रहत्याग प्रतिमाओं का स्वरूप और उनके भेदों का वर्णन किया जायगा। इसलिए इसका नाम सामायिकादि परिग्रहत्याग प्रतिमाधिकार है। जो ग्यारह प्रतिमाओं में से किसी भी प्रतिमा का निर्वाह करता है सामान्यतः वह नैष्ठिक है। नैष्ठिक की ११ प्रतिमायें होती हैं। इनमें से दो प्रतिमाओं का वर्णन इससे पहले की किरण में किया जा चुका है। इस किरण में तीसरी सामायिक प्रतिमा से लेकर नवमी परिग्रहत्याग प्रतिमा तक का वर्णन किया जायगा। दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमा यद्यपि नैष्ठिक श्रावक की ही हैं तथापि इस ग्रंथ में इन दोनों प्रतिमाओं को साधक के रूप में स्वीकार कर उनका साधकत्व रूप से वर्णन आगे किया जायगा क्योंकि यह मुनिपद की साधक हैं।

नैष्ठिक श्रावक के तीन भेद

"आद्यास्तु षट्जघन्याः स्युः मध्यमास्तदनुत्रयः ।
शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥ १ ॥"

अर्थ—प्रथम प्रतिमा से लेकर छठ प्रतिमा तक तो जघन्य और सप्तम, अष्टम, नवम, प्रतिमा तक मध्यम तथा दशम व ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक श्रावक उत्कृष्ट नैष्ठिक (श्रावक) कहते हैं।

प्रतिमाओं का लक्षण

प्रतिमाओं के नाम बतलाने से पूर्व सामान्य रूप से प्रतिमामात्र का लक्षण कवि बनारसीदासजी के पद्यों द्वारा निरूपण करते हैं।

"संयम अंश जग्यो जहां, भोग अरुचि परिणाम ।
उदय प्रतिज्ञा को भयो, प्रतिमा ताको नाम ॥
संयम धारण सब चहैं, संयम भाव न होय ।
भेद ज्ञान होये विना, संयम सधै न कोय ॥

अर्थ—संयम के अंश जागृत हुए विना जो एक दूसरे को देख कर साधु अवस्था को धारण कर लेते हैं उनके परिणामों में सदा आर्त परिणाम प्रायः बना रहता है और जीवों की दया भी नहीं पलती। क्योंकि जिस प्रकार विना मजबूत जड़ के महल नहीं ठहरता, उसी प्रकार बिना भेद विज्ञान के संयम की जागृति नहीं होती और देखा देखी उठा हुआ संयम भाव विशेष कार्यकारी नहीं होता प्रत्युतः कर्म बन्ध का कारण होता है। संयम बिना जीव इन्द्रियों के वशीभूत रहकर कष्टों को प्राप्त करता है। जो जीव एक २ इन्द्रिय के वशीभूत हैं उनको भी बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है एवं प्राणतक की बाजी लगादेनी पड़ती है। किसी कवि ने कहा भी है—

"मृग अलि मीन पतङ्ग गज एकाएक में नाश ।
जिन के पांचों घट बसे उनके कैसी आश ॥"

अर्थ—हिरण भौंरा मछली पतङ्ग और गज ये जीव एक २ इन्द्रिय के आधीन होने से ही अपने को खो बैठते हैं; फिर जो प्राणी पांचों इन्द्रिय के वश में हो जावे उसका जितना भी अनर्थ हो जावे वह भी कम है। उनको जीवन की आशा छोड़ देनी चाहिये।

ये इन्द्रियों के विषय ऊपर से मधुर और अन्तरङ्ग से विषपूर्ण किंपाक फल के समान आपातरमणीय है। इनका परिणाम दुःख पूर्ण है। कविवर दौलतरामजी ने भगवान से निम्न लिखित प्रार्थना की है—

"आतम के अहित विषय कषाय इनमें मेरी परिणति न जाय"

भावार्थ—[illegible] आत्मा के अहित रूप पञ्चेन्द्रिय विषय एवं क्रोधादिक कषाय हैं। भगवन् मेरा परिणाम इनकी तरफ न लगे [illegible] है [illegible] वैराग्य और सत्य संयम एवं भेद विज्ञान प्राप्त कर लिया हो। यदि देखा देखी संयम धारण [illegible] शीघ्र छूट सकता है। प्रथम तो जीव अनादि काल से विषयों को सेवन करता आया है, उसे विषय [illegible] है और जीव की बुद्धि चिरन्तन अभ्यास के अनुकूल विशेष प्रवृत्त होती है। अतः जिसने देखा देखी संयम धारण [illegible] है।

[illegible] पौत्र मारीच ने देखा देखी संयम लियाथा, किन्तु वैराग्य एवं भेद विज्ञान के बिना छोड़ना पड़ा और अनन्त-[illegible] कर दुःख उठाना पड़ा एवं अनन्त काल तक एकेन्द्रिय पर्याय भी धारण करनी पड़ी। अतः किसी को [illegible] नहीं [illegible] चाहिये।

[illegible] है—

"संयम त्याग न करो कदा त्याग किये अघ होय।
ऋषभ पौत्र की कथा पढ सुनते ही दुःख होय॥

[illegible] कभी भी नहीं करना चाहिये। संयम के त्याग से बड़ा पाप होता है। ऋषभ देव के पौत्र की कथा से आप [illegible] के पौत्र को भी संयम त्याग के कारण कितने २ कष्ट उठाने पड़े।

देश संयम की ११ कक्षाएँ (११ प्रतिमाएँ)

[illegible] हैं।

"श्रावकपदानि देवैरेकादशदेशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः॥ १३६॥ (रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

[illegible] है। [illegible] हुए गुण की प्राप्ति होती है। अर्थात् क्रमोल्लंघन नहीं होता।

ग्यारह प्रतिमाओं के नाम ये हैं:—

१. दर्शन प्रतिमा २. व्रत प्रतिमा ३. सामायिक प्रतिमा ४. प्रोषध नियम प्रतिमा ५. सचित्ताविरत प्रतिमा ६. रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा ७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा ८. आरंभ त्याग प्रतिमा ९. परिग्रहत्याग प्रतिमा १० अनुमतित्याग प्रतिमा ११. और उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा। इस प्रकार ग्यारह श्रेणियां हैं।

प्रतिमाधारियों के तीन भेद

इन प्रतिमाओं के धारण करने वाले श्रावकों के जघन्य, मध्यम और उत्तम तीन भेद हैं।

१. जघन्य मे तो प्रथम प्रतिमा से लेकर छटी प्रतिमा तक नैष्ठिक होते हैं।

२. मध्यम मे सप्तम प्रतिमा से नवम प्रतिमातक ब्रह्मचारी होते हैं।

३. उत्तम में दशम और ग्यारह प्रतिमाधारी साधक श्रावक कहे जाते हैं। इन तीनों के भी उत्तम, मध्यम व जघन्य भेद से तीन भेद निम्न प्रकार से होते हैं।

जघन्य नैष्ठिक श्रावक के भेद।

प्रथम प्रतिमा और द्वितीय प्रतिमा धारी जघन्य नैष्ठिक। तृतीय प्रतिमा और चतुर्थ प्रतिमाधारी मध्यम नैष्ठिक। पंचम प्रतिमा और षष्ठ प्रतिमाधारी उत्तम नैष्ठिक।

मध्यम नैष्ठिक श्रावक जो ब्रह्मचारी हैं उसके भेद।

सप्तम प्रतिमाधारी जघन्य ब्रह्मचारी होता है। अष्टम प्रतिमाधारी मध्यम ब्रह्मचारी होता है। नवम प्रतिमाधारी उत्तम ब्रह्मचारी होता है।

उत्तम श्रावक (जिसे साधक कहते हैं) के भेद।

दशम प्रतिमाधारी श्रावक जघन्य साधक कहलाता है।

ग्यारहवीं प्रतिमाधारी क्षुल्लक क्षुल्लिका मध्यम साधक होता है। ग्यारहवीं प्रतिमाधारी ऐलक ही होता है वह उत्तम साधक है। इसकी आर्य संज्ञा है; क्योंकि शूद्र ऐलक पद धारण नहीं कर सकता।

प्रथम प्रतिमा का विवेचन

जघन्य नैष्ठिक का स्वरूप

'हिंसाऽसत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
प्राणातिपातविरतसह्यतिचारैर्दार्शनिको भवेत्॥'

अर्थ—स्थूल हिंसा-असत्य-चोरी-कुशील और परिग्रह के त्याग से दार्शनिक प्रतिमाधारी जघन्य नैष्ठिक है। यहां पर बादर जीवों की हिंसा का अतिचारों को भी बचाकर त्याग करना आवश्यक है।

उल्लिखित पांचों पापों की संगति से ही यह प्राणी महान् दुःख प्राप्त करता है। अतिचारों के परित्याग पूर्वक इनके त्याग से निर्मलता आती है एवं श्रावक दार्शनिक प्रतिमाधारी होता है।

अब क्रमसे अहिंसादि पांचों अणुव्रतों का स्वरूप कहते हैं।

अहिंसाणु व्रत का स्वरूप

संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः॥ ५३॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

अर्थ—संकल्प से मन, वचन और काय के द्वारा जो कृत कारित और अनुमोदना से दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीवों का नहीं घात करना है उसको निपुण पुरुष गणधरादिकों ने स्थूल वध विरमण अर्थात् अहिंसाणुव्रत कहा है।

एक कविने हिन्दी पद्य में अहिंसाणु व्रत का स्वरूप निम्न प्रकार से लिखा है।

जो जन मन वच काय से कृत कारित सो जेह ।
त्रस को त्रासन दीजिये प्रथम अणुव्रत एह ॥

छह ढाले में अहिंसाणु व्रत का लक्षण निम्न प्रकार है ।

"त्रस हिंसा को त्याग वृथा थावर न संहारे"

अर्थ—त्रस हिंसा का सर्वथा परित्याग कर व्यर्थ स्थावर जीवों की हिंसा का न करना अहिंसाणु व्रत है ।

हिंसा के भेद

हिंसा के चार भेद हैं—

१. संकल्पी हिंसा २ विरोधी हिंसा ३ उद्योगी हिंसा ४ और आरंभी हिंसा । हिंसा को समझने के लिए इन चार बातों को समझना चाहिए—

१ हिंस्य २ हिंसक ३ हिंसा ४ और हिंसा का फल

१ हिंस्य—जो मारा जावे वह हिंस्य है ।

२ हिंसक—जो मारने वाला है वह हिंसक है ।

३ हिंसा—जीव के मारने रूप क्रिया हिंसा है ।

४ हिंसा फल—जो नीचातिनीच नरक निगोद चाण्डाल आदि पर्याय धारण कर दुःख भोगना है, वह हिंसा का फल है ।

भेद प्रभेद सहित हिंसा का त्याग श्रावक ऊंची अवस्था में करता है ।

अब उल्लिखित चार प्रकार की हिंसा के स्वरूप को विशदरूप से बतलाते हैं—

संकल्पी हिंसा

१ संकल्पी हिंसा—गृहस्थ लोग प्रथम पाक्षिक अवस्था से ही संकल्पी हिंसा के त्यागी होते हैं। जान कर किसी जीव को बाधा नहीं पहुंचाते।

अव्रत सम्यग्दृष्टि—जो श्रावक किसी प्रकार के व्रतों का पालन नहीं करते हैं वे जीव अव्रत सम्यग्दृष्टि है। यद्यपि अव्रत सम्यग्दृष्टि त्रस और स्थावरजीवों की हिंसा से विरक्त नहीं होते, तथापि उनमें सम्यग्दर्शन होने के कारण अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं होती। अतः वे हिंसा का कार्य नहीं करते हैं। यहां तक है कि अव्रती के चारित्र मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से मांस भक्षण का भी त्याग नहीं है। क्योंकि यदि वह मांस भक्षण का त्याग करदेवे तो व्रती कहलाने लगे, अव्रती न रहे, एवं वह पंचम गुणस्थान वर्ती पाक्षिक श्रावक बन जावे। वैसे सम्यग्दृष्टि होकर जो अव्रती है वह अव्रत सम्यग्दृष्टि है। गोम्मटसार में लिखा है—

> "णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
> जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठि अविरदो सो॥

अर्थ—जो इन्द्रियों के विषयों से तथा स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है; किन्तु जिनेन्द्र द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान रखता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

परन्तु जो हिंसा को त्याग करने वाला पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक है वह प्राण जाने पर भी संकल्पी हिंसा नहीं करता है।

विरोधी हिंसा

२ विरोधीहिंसा—आत्मरक्षा के लिए जो हिंसा होती है उसे विरोधी हिंसा कहते हैं। गृहस्थ के लिए यह हिंसा अनिवार्य होजाती है। यह उसकी मजबूरी की हिंसा है। जो उसके न्यायानुकूल जीवन में बाधा डालता है या उसके साधनों को हानि पहुंचाता है, उसपर आक्रमण करता है, उसका प्रतीकार करना वह अपना कर्तव्य समझता है। उस प्रतीकार के प्रयत्न में जो हिंसा होती है उससे गृहस्थ बचने की कोशिश करे तो वह अपनी जिम्मेवारी को नहीं निभाता है। तीर्थंकरों ने भी इस जिम्मेवरी को निभाया है। घर में ही वैरागी कहलाने वाले चक्रवर्ती भरत को भी हथियार उठाने पड़े हैं। अनिवार्य होने पर भी यह हिंसा तो है और इससे पाप बंध भी होगा ही, फिर जब तक कोई गृहस्थ है तब तक इसें छोड नहीं

सकता । अणुव्रतियों ने बड़े २ युद्ध लड़े हैं। उनमें हजारों की जानें गई हैं और फिर भी उसे कर्तव्य समझा गया है। यह हिंसा संकल्पी हिंसा से बहुत हलकी है। इसलिए इसे करता हुआ भी मनुष्य व्रती कहला सकता है। अपने पर आक्रमण करने वाले साँप पर पत्थर लकडी आदि फैंकना और उससे अपनी रक्षा करना कर्तव्य कोटि की चीज है, जबकि यों ही चलते फिरते उसे तंग करना एक पाप है। इसीलिए शिकार करना संकल्पी हिंसा है और पाप है। उससे मनुष्य को जरूर बचना चाहिए। नहीं तो वह कर्तव्य हीन है। हमें क्या अधिकार है कि हम मनोरंजन के लिए किसी प्राणी को सताऐं। विरोधी हिंसा विधेय होने पर भी यह ध्यान रखना जरूरी है कि जहातक हो सके विरोध को शांतिमय उपायों से ही दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे सफलता न मिलने पर ही विरोधी हिंसा का अवलंबन करना चाहिए।

उद्योगी हिंसा

३ उद्योगी हिंसा—न्यायानुकूल जीवनोपयोगी आजीविका में जो हिंसा होती है उसे उद्योगी हिंसा कहते हैं। उद्योगी हिंसा स्थूल रूप से अष्टम प्रतिमाधारी से छूटती है उसके पहले नहीं छूटती है। क्योंकि अष्टम प्रतिमा से पहले उद्योग करने का त्याग नहीं होता है। उससे पहले मनुष्य कृषि वाणिज्य और व्यापार करता रहता है तब तक उसे प्रमाद जन्य कार्य भी करना पडता है। अतः अष्टम प्रतिमा से पहले उद्योगी हिंसा का त्याग पूर्ण रूप से नहीं बन सकता।

उसमें भी विशेषता यह है कि उद्योगी हिंसा आठवीं प्रतिमा मे जघन्य रूप से दूर होती है और नवमी प्रतिमा में मध्यम रूप से उद्योगी हिंसा दूर होती है। क्योंकि नवमी प्रतिमा तक घर में ही रह सकता है और जबतक घर मे रहेगा तब तक कुटुम्बी जन सलाह लेते ही रहते हैं। सलाह देने के कारण जो उद्योगी हिंसा का परित्याग बनता है वह मध्यम ही बन सकता है।

उत्तम रूप से यह हिंसा दशमी प्रतिमा के धारी श्रावक के दूर होती है क्योंकि दशम प्रतिमा में वह घर छोड़ देता है कुटुम्बी उससे सलाह आदि नहीं लेते। अत. पूर्ण उद्योगी हिंसा का परित्यागी दशवीं प्रतिमा मे ही बन सकता है।

आरंभी हिंसा

४ आरम्भी हिंसा—चूल्हा जलाना, पानी भरना, बुहारी देना, मकान बनाना आदि मे जो हिंसा होती है वह आरंभी है। यह हिंसा स्थूल रूप से तो दशमी अनुमति त्याग प्रतिमा में छूट जाती है, किन्तु सूक्ष्म रीति से विचार किया जावे तो यह हिंसा ग्यारहवीं प्रतिमा धारी ऐलक तक के भी नहीं छूटती है। क्योंकि उनके प्रत्याख्यान कषाय की सत्ता बनी रहती है। अतः पूर्ण रूप से यह हिंसा दिगम्बर मुनि जो निर्ग्रन्थ हैं, उनके ही छूट सकती है। क्योंकि उनके प्रत्याख्यान कषाय सत्ता में भी नहीं रहती है। अतः एकादश प्रतिमाधारी ऐलक भी आरंभी हिंसा का स्थूल रूप से ही त्यागी है।

इस का विशेष विवरण एकादश प्रतिमा वर्णन में करेंगे, वहां से समझ लेना चाहिये।

जब तक प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय है तब तक हिंसा बनी-रहेगी। वह ही हिंसा का मूल कारण है। इस कारण वहाँ तक एक देश अणुव्रती है—एवं एक देश ही हिंसा का परित्याग है।

वास्तव में अहिंसा व्रत भावज्ञानी मुनि के ही होता है। जीवों के भेद प्रभेद पूर्ण रूप से भले प्रकार वे ही जानते हैं एवं सिद्धान्त रूपी नेत्र के धारक होते हैं तथा उनके कषाय का उदय नहीं होता है। इस कारण वेही पूर्ण रूप से एकेन्द्रिय जीव से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक जीवों के रक्षक हो सकते हैं।

उनको गुणस्थान, मार्गणा तथा जीव समासों का भी पूर्ण रूप से ज्ञान होता है। अतः वही पूर्ण अहिंसा महाव्रत को पालते हैं। चौदह गुणस्थान का वर्णन मुनि धर्म में बतलाया जा चुका है, अतः यहां नहीं लिखा गया है। यहां केवल जीव समास बतलाये जाते हैं।

जीव समास का स्वरूप

जेहिं अणेया जीवा णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी।
ते पुण संगहिदत्था जीवसमासात्ति विण्णेया ॥७०॥
तसचदुजुगाणमज्झे अविरुद्धेहिं जुदजादिकम्मुदये।
जीवसमासा होंति हु तब्भवसारिच्छसामण्णा ॥७१॥ (गोम्मटसार जीव०)

अर्थ—जिनके द्वारा अनेक जीव तथा उनकी अनेक प्रकार की जाति जानी जाय उन धर्मों को अनेक पदार्थों का संग्रह करने वाला होने से जीव समास कहते हैं ॥ ७० ॥

त्रस स्थावर बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण इन चार युगलों में अविरुद्ध त्रसादि कर्मोंयुक्त जाति नाम कर्म का उदय होने पर जीवों में होने वाले ऊर्ध्वता सामान्य रूप, या तिर्यक् सामान्य रूप, धर्मों को जीव समास कहते हैं।

त्रस कर्म का बादर के साथ अविरोध और सूक्ष्म के साथ विरोध है, इसी प्रकार पर्याप्त कर्म का साधारण के साथ विरोध है और प्रत्येक के साथ अविरोध है। इसी तरह अन्यत्र भी यथा सम्भव लगा लेना चाहिये।

पट्काय जीवों पर दया रूप परिणमन का नाम प्राण संयम है। वह प्राण सयम जीव समासों के ज्ञान बिना नहीं हो सकता। अत. उनका वर्णन करना अत्यंत आवश्यक है।

जीव समास के भेद

जीव समास के संक्षेप और विस्तार से कई भेद हैं। एक प्रकार से १४, दूसरे प्रकार १६, तीसरे प्रकार से ५८, चौथे प्रकार से ६८ और पांचवें प्रकार से ४०६ जीव समास के भेद होते हैं। उनमें से १४ भेद इस प्रकार हैं.—

जीव समास के चौदह भेद

एकेन्द्रिय के दो भेद हैं—सूक्ष्म और वादर, तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय संज्ञी और पंचेन्द्रिय असंज्ञी इन सातों भेदों को पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से गुणा करने पर चौदह भेद हो जाते हैं।

जीव समास के १६ भेद

१ पृथ्वी २ जल ३ तेज ४ वायु तथा ५ वनस्पति में साधारण वनस्पति का भेद नित्य निगोद और ६ इतर निगोद, इन छहों को सूक्ष्म और वादर से गुणा करने पर इनके १२ भेद हुए। ऊपर वनस्पति में प्रत्येक को छोड दिया था सो यहां पर उसके सप्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित दो भेद मिलने से चौदह भेद एकेन्द्रिय के हो गये। इनके अतिरिक्त १५ द्वीन्द्रिय, १६ त्रीन्द्रिय १७ चतुरिन्द्रिय १८ असंज्ञी पंचेन्द्रिय १६ संज्ञी पंचेन्द्रिय इस प्रकार १६ जीव समास होते हैं।

जीव समास के ५७ भेद

जीव समास के १६ भेदों को पर्याप्त १, निर्वृत्यपर्याप्त २, और लब्ध्यपर्याप्त ३, इन तीनों भेदों से गुणित करने पर ५७ सत्तावन भेद हो जाते हैं।

जीव समास ६८ भेद

जीव समास के ८५ तिर्यञ्चों के, ६ मनुष्यों के, २ नारकी तथा २ देवों के इस प्रकार चारों गतियों के भेदों के संयोजन से अट्ठाणवें भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१ तिर्यञ्चगति—सम्मूर्छन तिर्यञ्च के निम्नलिखित भेदों से ६९ भेद हैं और गर्भज के १६ है।

(क) सम्मूर्छन में ४२ एकेन्द्रिय के, ९ विकलत्रय के और १८ पंचेन्द्रिय के इस प्रकार कुल ६९ सम्मूर्छन तिर्यञ्च के भेद हैं।

(ख) गर्भज में—१२ कर्म भूमि के और ४ भोग भूमि के इस प्रकार कुल मिलाकर सोलह भेद गर्भजतिर्यञ्च के हैं।

६९	सम्मूर्छनतिर्यञ्च	संयोजन से ८५ भेद तिर्यञ्चगति के हैं।
१६	गर्भज पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च	

तिर्यञ्चों के ८५ भेदों का पूर्ण विवरण—

पृथ्वी १, अप २, तेज ३, वायु ४, नित्य निगोद ५ और इतरनिगोद ६—इन ६ को सूक्ष्म और बादर से गुणन करने पर १२ भेद होते हैं। सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित के मिलाने से १४ होते हैं यदि उल्लिखित १४ भेदों को पर्याप्त १, निर्वृत्यपर्याप्त २ और लब्ध्यपर्याप्त ३ इन तीनों से गुणित कर दिया जावे तो ४२ एकेन्द्रिय जीव के भेद होते हैं।

अब आगे ९ नौ विकलत्रय के भेदों को कहते हैं—१ द्वीन्द्रिय २ त्रीन्द्रिय और ३ चतुरिन्द्रिय को इनको १ पर्याप्त २ निर्वृत्य पर्याप्त ३ लब्ध्यपर्याप्त इन तीनों से गुणन करने पर ९ नौ भेद होते हैं।

अब १८ संमूर्छन में पंचेन्द्रिय जीवों के भेद बतलाते हैं। १ जलचर २ स्थलचर ३ नभचर इन तीनों को सैनी और असैनी से गुणित करने से छै भेद होते हैं। उल्लिखित छै भेदों को पर्याप्तक १, लब्ध्यपर्याप्तक २ और निर्वृत्य पर्याप्तक ३ से गुणन करने पर १८ अठारह भेद हो जाते हैं।

इस प्रकार अर्थात् ४२ एकेन्द्रिय के, ९ विकलत्रय के और १८ पंचेन्द्रिय के कुल ६९ संमूर्छन के भेद होते हैं। इनमें निम्नलिखित १६ गर्भज के मिलाने से ८५ भेद तिर्यञ्चयोनिस्थ जीवों के हैं।

अब गर्भज में कर्म भूमिज पञ्चेन्द्रिय के १२ भेद बतलाते हैं।

१ जलचर, २ स्थलचर, और ३ नभचर इन तीनों को सैनी और असैनी से गुणन करने पर ६ भेद होते हैं पुन. पर्याप्त और निर्वृत्य पर्याप्त से गुणन करने पर १२ बारह भेद होते हैं।

आगे गमन में भोग भूमि के चार भेद कहते हैं —

भोग भूमि में जलचर नहीं होते, अतः स्थलचर और नभचर को ही पर्याप्त और निर्वृत्य पर्याप्त से गुणा किया तो भोग भूमि तिर्यञ्चों के केवल चार भेद ही हुए। इस प्रकार तिर्यञ्चों के ८५ भेद हुए। मनुष्यों नारकियों और देवों के आगे बताते हैं।

मनुष्यों के भेद—

मनुष्य स्थान भेद से अर्थात आर्य खण्ड, म्लेच्छखण्ड, भोगभूमि और कुभोग भूमि से चार प्रकार के हैं। उनको पर्याप्त-निर्वृत्य पर्याप्तक से गुणन करने पर आठ भेद होते हैं। इनमें एक भेद संमूर्छन सैनी मनुष्यो का है जो कि स्त्री की योनि नाभि काँख तथा मनुष्य के शरीर अन्दर मल मूत्र और शरीर में होते हैं।

नारकी और देवों के दो भेद—

देव पर्याप्त और निर्वृत्य पर्याप्तक भेद से २ प्रकार के है और देवों के समान नारकियों के भी दो भेद हैं इस प्रकार कुल ६८ भेद हुए—

विशेष—

संमूर्छन में एकेन्द्रिय के ४२ भेद का लघु चित्रण इस प्रकार भी समझा जासकता है—

जीव समास के उक्त ५७ भेदों में से पंचेन्द्रिय के छह भेद निकालने से एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय सम्बधि ५१ भेद शेष रहते हैं। कर्म भूमि में होने वाले तिर्यञ्चों के तीन भेद हैं, जलचर, स्थलचर, नभचर। ये तीनों ही तिर्यञ्च संज्ञी और असंज्ञी होते हैं। तथा गर्भज और सम्मूर्छन होते हैं, परन्तु गर्भजों मे पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त ही होते हैं, इस लिए गर्भज के बारह भेद, और सम्मूर्छनों मे पर्याप्त निर्वृत्य-पर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त तीनों ही भेद होते हैं, इसलिए सम्मूर्छनों के अठारह भेद, सब मिलकर कर्म भूमिज तिर्यञ्चों के तीस भेद होते हैं। भोग भूमि में पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के स्थलचर, नभचर दो ही भेद होते हैं और ये दोनों ही पर्याप्त तथा निर्वृत्यपर्याप्त होते हैं। इसलिए भोग भूमिज तिर्यञ्चों के चार भेद और उक्त कर्म भूमिज सम्बन्धी तीस भेद, उक्त ५१ भेदों मे मिलने से तिर्यग्गति सम्बन्धी सम्पूर्ण जीव समास के ८५ भेद होते हैं। भोग भूमि मे जलचर सम्मूर्छन तथा असंज्ञी जीव नहीं होते।

मनुष्य देव, नारक सम्बन्धी भेद इस प्रकार है—

आर्य खण्ड में पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त एवं लब्ध्यपर्याप्त तीनों ही प्रकार के मनुष्य होते हैं। म्लेच्छ खण्ड में लब्ध्यपर्याप्त को छोडकर दो प्रकार के ही मनुष्य होते हैं। इसी प्रकार भोग भूमि, कुभोग भूमि देव नारकियों में भी दो ही भेद होते हैं। इस लिए सब मिलकर जीव समास के ६८ भेद हुए।

भावार्थ—पूर्वोक्त तिर्यञ्चों के ५ भेद, ६ भेद मनुष्यों के, दो भेद देवों के तथा दो भेद नारकियों के, इस प्रकार सब मिलाकर जीव समास के अवान्तर भेद ९८ होते हैं।

जीव समास के चार सौ छह भेद

अब आगे चार सौ छे जीव समासों का वर्णन करते हैं।

एकेन्द्रिय ७२, विकलत्रय ९, कर्म भूमि तिर्यञ्चों के ३०, भोग भूमि तिर्यञ्चों के १२, देवों के १७२, नारकियों के ९८ और मनुष्यों के १३ इस प्रकार सब जीव समास ४०६ होते हैं।

एकेन्द्रिय के ७२ भेद—

अब प्रथम ही एकेन्द्रिय के बहत्तर प्रकार को बतलाते हैं :—

कोमल पृथ्वी, कठोर पृथ्वी, वायुकाय, तेजकाय, जलकाय, साधारण-वनस्पति-नित्यनिगोद, और साधारण वनस्पति-इतरनिगोद इन सातों को सूक्ष्म और बादर भेद से गुणन करने से १४ चौदह भेद हो जाते हैं।

अब प्रत्येक वनस्पति के भेद लिखते हैं।

तृण, बेल, छोटा वृक्ष, बड़ा वृक्ष, कन्दमूल इन पांचों को सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित से गुणित करने पर दश भेद होते हैं।

ऊपर के १४ भेदों को इन १० के साथ मिलाने से २४ भेद हो जाते हैं।

और उल्लिखित २४ भेदों को पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त तथा लब्ध्यपर्याप्त इन तीनों से गुणित करने पर एकेन्द्रिय के बहत्तर भेद हो जाते हैं।

विकलत्रय के ९ भेद—

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, और चतुरिन्द्रिय इन तीनों को पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त, तथा लब्ध्यपर्याप्त इन तीनों से गुणित करने पर नौ भेद हो जाते हैं।

कर्मभूमिज तिर्यञ्चो ३० भेद—

पर्याप्तगर्भज, निवृत्यपर्याप्तगर्भज पर्याप्तसंमूर्छन, निवृत्यपर्याप्त–संमूर्छन और लब्ध्यपर्याप्त–संमूर्छन इन पांचों भेदों को सैनी और असैनी से गुणित करने पर दश भेद हो जाते हैं। इनको जलचर, स्थलचर और नभचर इन तीनों से गुणित करने पर कर्म भूमि के तिर्यञ्चों के तीस भेद होते हैं।

भोगभूमिज तिर्यञ्चों के १२ भेद—

भोग भूमि मे तिर्यञ्चों के १२ भेद निम्न प्रकार से हैं :—

भोग भूमि मे जलचर नही होते अत. स्थलचर और नभचर को पर्याप्त और निवृत्य पर्याप्त भेद से गुणित करने ४ होते हैं। इनको जघन्य मध्यम और उत्तम इन तीनों से गुणित करने पर बारह भेद भोग भूमिजतिर्यञ्चों के बन जाते है।

अतः ४ भेद जघन्य ४ मध्यम के और ४ उत्तम के इस प्रकार १२ बारह भेद जानने।

देवों के १७२ भेद —

अब १७२ देवों के भेद बतलाते है।

भवन वासियों के १०, व्यन्तरों के ८, ज्योतिषियों के ५ इस प्रकार इन तीन निकायों के २३ भेद हुए।

कल्पवासी के सोलह स्वर्गों के ५२ भेद हैं। जैसे सौधर्म और ईशान स्वर्ग में ३१ भेद हैं, सानत्कुमार और माहेन्द्र में ७ भेद हैं, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर में ४ भेद हैं, लान्तव और कापिष्ठ में २ भेद हैं पांचवे शुक्र महा शुक्र में १ भेद है, सतार और सहस्रार में १ भेद है, आनत और प्राणत में ३ तीन भेद हैं, और आठवें आरण और अच्युत में भी ३ तीन भेद हैं। इस प्रकार सब कल्पवासियों के ५२ बावन भेद हैं।

आगे कल्पातीत के ग्यारह भेद कहते है।

उत्तम, मध्यम और जघन्य ग्रैवेयक के ६ भेद है और नव अनुदिश में एक ही भेद हैं। एक बीच में, चार दिशाओं में और विदिशाओं में चार चार विमान हैं। फिर ५ अनुत्तर हैं। जिन में सर्वार्थ सिद्धि बीच में है और चारों दिशाओं में चार विमान हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नाम के क्रमवार हैं। सो एक भेद इनका। इस प्रकार सब मिला कर ६३ भेद तो ये हुए और २३ भेद ऊपर के मिलाये तो सब भेद ८६ हुए। इन सब को पर्याप्त तथा निवृत्यपर्याप्त से गुणित करने पर १७२ भेद देवों के होते हैं।

नारकियों के ६८ भेद—

अब नारकियों के ६८ भेद बतलाते हैं:—

प्रथम नरक में तेरह पटल, दूसरे नरक में ११ पटल, तीसरे नरक में ६ पटल, चौथे नरक में ७ पटल, पांचवें नरक में पांच पटल, छठे नरक में ३ पटल और सप्तम नरक में १ पटल है। इस प्रकार सातों नरकों के ४६ पटल हैं इनको पर्याप्त तथा अपर्याप्त से गुणित करने पर ६८ भेद नारकियों के होते हैं।

मनुष्यों के १३ भेद—

तेरह भेद मनुष्य के इस प्रकार हैं—

उत्तम, मध्यम, और जघन्य भोग भूमियों तथा कुभोग भूमि के एवं आर्य खण्ड और म्लेच्छ खण्ड के मनुष्य इन ६ भेदों को पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त से गुणित करने पर १२ भेद होते हैं। इनमें लब्ध्यपर्याप्त मनुष्यों का सैनी भेद मिलाने से १३ भेद हो जाते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों के विषय में पं० द्यानतरायजी ने कहा है कि:—

नारी योनि थन नाभि काँखि में पाइये
नर नारी के मल मूत्र में गाइये
मुर्दे में संमूर्छन सैनी जीवरा
लब्ध्यपर्याप्तक दया धरि जीवरा

इस प्रकार ४०६ भेद हुए। इनमें से १८६ भेद पर्याप्तक और १८६ निर्वृत्यपर्याप्तक और ३४ लब्ध्य पर्याप्तक जीव इस प्रकार संयोजन से ४०६ हैं।

जघन्यनैष्ठिक श्रावक का स्वरूप

जीवों की पूर्ण रूप से दया पालने वाले मुनि होते हैं। और एक देश दया पालने वाले पाक्षिक श्रावक से लेकर सब ही अन्य श्रावक हैं।

अब यहा पर अहिंसाणुव्रत के अतिचार को कहते हैं।

अहिंमाणुव्रत के अतिचार

"बंधवधछेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः" (मोक्षशास्त्र)

१ बंध—पशु बैल आदि जीवों को इस प्रकार की रस्सी या सांकल से बांधे कि उनके गले में फांसी सी न लगे अग्नि आदि की बाधा आने पर तोड़ कर भाग सके। कठिन रूप से बांधना अति चार है।

२ वध—पशुओंको विशेष रूप से इतनी चोट नहीं पहुंचानी चाहिये कि जिससे विशेष अंगों में चोट पहुंचे। अर्थात् लाठी आदि से विशेष ताडन न करें। मर्यादा से बाहर पशु का ताडन करना वध अतिचार है।

३ छेद—पशुओं के नाक कान आदि का छेदन न करें। एवं अग्नि तथा गर्म लोहे से दाग न लगवावे।

४ अतिभारारोपण—मर्यादा से अधिक भार नहीं लादे क्योंकि वे मूक पशु कुछ नहीं कह सकते, किन्तु उनको कष्ट अधिक होता है।

५ अन्नपान निरोध—समय पर पशुओं को अन्न घास पानी आदि की व्यवस्था भी अवश्य करनी चाहिये। अन्यथा अन्न पान निरोध नाम का अतिचार लगता है। और पशुओं की बीमारी आदि का भी ध्यान रखना चाहिये।

जब श्रावक अहिंसाणुव्रत में अतिचार नहीं आने देता है तब ही उसकी अणुव्रत की दृढता एवं निर्दोषता हो सकती है।

अहिंसाणुव्रत की पांच भावनायें

अब अहिंसाणुव्रत की पांच भावनाओं का वर्णन करते हैं।

"वाङ् मनो गुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच" (मोक्षशास्त्र)

अथ—१ वचन गुप्ति २ मनो गुप्ति ३ ईर्यासमिति ४ आदाननिक्षेपण समिति ५ और आलोकित पान भोजन ये पांच भावनायें अणुव्रत की हैं तथापि विशेषरूप देने से महाव्रत रूप परिणमन हो जाती है।

विशेप स्पष्टीकरण—

१ वचन-गुप्ति—अच्छी प्रकार से बुरी प्रवृत्ति को रोक कर, पीड़ा कारक वचन न बोलकर, हितकारी प्रामाणिक एवं सार्थक तथा मिष्ट वचन बोलना वचनगुप्ति है।

२ मनोगुप्ति—संवर प्रवृत्त अपनी मन की प्रवृत्ति को विषय और कषायों से हटाकर पदार्थों के चिन्तवन में लगाना और संसार रूप प्रवृतियों का स्वरूप समझकर मन को उनसे हटा लेना मनोगुप्ति है।

३ ईर्या-समिति—गृहस्थावस्था में रहते हुए भी सावधानी से रहना चाहिये। चार हाथ जमीन आगे देखकर चलना चाहिये। जिससे त्रस और स्थावर जीवों को किसी प्रकार की बाधा न पहुचे।

४ आदान-निक्षेपण-समिति—जो वस्तु लेनी या देनी हो उसे देख भाल कर उठाना तथा रखना आदान-निक्षेपण-समिति है।

५ आलोकितपानभोजन—प्रकाश में-दिन में अच्छी तरह से देखकर एवं शोध कर जो आहार करना एवं जलादि का पीना है उसका नाम आलोकितपानभोजन समिति है।

सत्याणुव्रत का स्वरूप

"स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यद् तद् वदन्ति सन्तः स्थूलमृपावादवैरमणम् ॥ ५५ ॥

[रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

अर्थ—जो पुरुप स्थूल झूंठ न तो आप बोले और न दूसरों से बुलवावे और जिस वचन से किसी पर आपत्ति आजावे ऐसे वचन को भी न बोले अर्थात् आपत्ति कारक सत्य वचन भी न बोले। ऐसे समय पर मौन ग्रहण कर लेना अच्छा है जिससे आपत्ति भी न आवे और 'वचन की प्रमाणता से पुरुप की प्रमाणता निर्भर है, वह भी बनी रहे। इसको गणधर देवों ने सत्याणुव्रत कहा है।

हिन्दी कविने भी लिखा है:—

"बोली बोल अमोल है बोल सके तो बोल।
हिये तराजू तोल कर पीछे बाहिर खोल ॥ १ ॥

जीभ बिचारी कह गई छिन में स्वर्ग पताल ।
आपतो कह भीतर गई डंडा खाय कपाल ॥ २ ॥
शब्द संवारे बोलिये शब्द के हाथ न पाव ।
एक शब्द करे ओषधि एक शब्द करे घाव ॥ ३ ॥"

तात्पर्य—आपत्ति कारक सत्य वचन मे मौन धारण करना श्रेष्ठ है और अन्य समय सत्य हित मित और मिष्ट वचन बोलना चाहिये। संसार में शब्दों से ही परीक्षा होती है। अतः सत्याणुव्रत धारियों को शब्द बोलने में विशेष ध्यान रखना चाहिये। यदि बोली बोलना आवे तो बोलना चाहिये अन्यथा मौन रखना चाहिये।

समन्तभद्र स्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी के वचनों से ही परीक्षा करके उन्हें आप्त सिद्ध किया है।

संसार में वचन प्रमाण से ही पुरुष प्रमाणित होता है। जिसने अपने वचन एवं शब्दों पर ध्यान नहीं दिया, वह पुरुष न तो प्रामाणिक होता है और न सत्कार ही प्राप्त कर सकता है।

शब्द भी चिन्तामणि रत्न के समान है। हित, मित और मिष्ट शब्द बोलने से शत्रु भी द्वेष छोड़ कर मित्र हो जाता है। कठोर शब्द मत बोलिए। मिष्ट शब्द से कठोर पुरुष भी अपने अनुकूल हो जाता है। अतः प्रत्येक मनुष्य को सत्य और मर्यादित शब्द बोल कर आत्म-कल्याण तथा पर कल्याण करना चाहिये।

सत्याणुव्रत के पांच अतिचार और उनका स्वरूप

"मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः"

[तत्वार्थसूत्र—उमास्वामी]

अर्थ—मिथ्योपदेश १ रहोभ्याख्यान २ कूटलेखक्रिया ३ न्यासापहार ४ और साकारमन्त्रभेद ये पांच अतिचार सत्याणुव्रत के हैं। इनका विशेष विवरण इस प्रकार है:—

१ मिथ्योपदेश—परमागम से विपरीत, जिससे जीवों की हिंसा रूप प्रवृत्ति हो और मिथ्यात्व की वृद्धि हो ऐसा आगम-विरुद्ध उपदेश नहीं करना चाहिये, अन्यथा सत्याणुव्रत में मिथ्योपदेश नाम का अतिचार आजाता है।

२ रहोभ्याख्यान—किसी स्त्री या पुरुष की गुप्त छिपी बात प्रकट करना रहोभ्याख्यान है। अतः किसी की गुप्त बात को सत्याणुव्रती को नहीं प्रकट करना चाहिये, अन्यथा अतिचार आवेगा।

३ कूटलेखक्रिया—झूंठे खत लिखवाना, झूंठे स्टाम्प लिखना, झूंठी नालिस करना, झूंठी गवाही देना आदि कूटलेखक्रिया है। यह इस भव में निन्दनीय है तथा पर भव में भी दुर्गति का कारण है। सत्याणुव्रती को यह कभी नहीं करना चाहिये। ऐसा करने से सत्याणु व्रत में अतिचार आता है, तथा संसार में वह पुरुष अविश्वसनीय हो जाता है।

४ न्यासापहार—कोई पुरुष रुपया गहना या अन्य कोई वस्तु अपने पास धरोहर या किसी प्रकार से रख जावे उसको जैसी की तैसी पूर्ण रूप से नहीं देना अर्थात् रखने वाला किसी प्रकार से भूल जावे और थोड़ी वस्तु मागे तो उतनी ही दे देना, बाकी वस्तु अपने पास रख लेना न्यासापहार नाम का सत्याणु व्रत का अतिचार है।

५ साकारमन्त्रभेद—किसी पुरुष के शरीर या मुख की आकृति देखकर उसके गुप्त अभिप्राय को जान कर प्रकट कर देना साकार मंत्र भेद है। यह सत्याणुव्रती को कदापि नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने से जिस का भेद प्रकट किया जाता है उसको अत्यन्त दुःख पहुंचता है और उसको दुःख होने से अहिंसाणुव्रत में भी बाधा आती है और सत्याणुव्रत में भी अतिचार लगता है। मुख्य अहिंसा व्रत है शेष व्रत उसकी बाड़ अर्थात् रक्षक रूप हैं। अतः साकार मन्त्र भेद सत्याणुव्रती को नहीं करना चाहिये।

उल्लिखित सत्याणुव्रत के अतिचारों को जान कर सावधानी से सत्याणुव्रती को बचना चाहिये।

सत्याणुव्रत की पांच भावनाएँ और उनका स्वरूप

"क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच।" [तत्वार्थसूत्र—उमास्वामी]

अर्थ—क्रोध १ लोभ २ भय ३ हास्य ४ और सूत्र विरुद्ध बोलने का त्याग करना ५ सत्याणुव्रत की पांच भावनाएं हैं।

विशेष इस प्रकार जाननी चाहिए—

१ क्रोध-त्याग—किसी समय बाह्य निमित्त मिलने पर भी यदि क्रोध उत्पन्न हो जावे तो अपने विचारों से उसे शान्त करलेना क्रोध-त्याग नाम की सत्याणु व्रत की प्रथम भावना है।

२ लोभ-त्याग—असत्य के कारण लोभ की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये, अर्थात् सत्य के परित्याग से यदि द्रव्य की प्राप्ति भी हो तो भी सत्य ही बोलना, लोभ वश असत्य नहीं बोलना चाहिए।

३ भय त्याग—धर्म विरोध के भय से, लोक विरोध के भय से, राज विरोध के भय से, समाज विरोध के भय से, जाति विरोध के भय से, देश एवं ग्राम विरोध के भय से भी असत्य भाषण न करना, भय परित्याग नाम की सत्याणुव्रत की तीसरी भावना है।

४ हास्य त्याग—जिस हास्य से किसी जीव को प्राण पीड़ा हो जावे ऐसा हास्य भूलकर भी न करना सो सत्याणु व्रत की हास्य-त्याग नाम की चतुर्थ भावना है

५ सूत्रविरुद्धवचनत्याग - जिस किसी विषय की जानकारी न हो उस को स्पष्ट कह देना चाहिये कि यह हम को मालूम नहीं है। अपने को मालूम न होते हुए भी स्वयं अपनी तरफ से ऐसा वाक्य नहीं बोलना चाहिये जिससे आगम विरुद्ध वचन निकल जावे। न मालूम होने पर स्पष्ट कह देना, बिना जाने अपनी तरफ से स्वयं बोलने की अपेक्षा बहुत अच्छा है। झूंठ बोलना ठीक नहीं है। न जानते हुए हम नहीं जानते ऐसा कहने से पद नहीं बिगड़ता है।

उल्लिखित पाचों भावनाओं को ध्यान में रखकर सत्याणुव्रत पालन करना चाहिये। जिससे महाव्रत धारण की योग्यता में सहायता मिले।

अचौर्याणुव्रत का स्वरूप

"निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टं।
न हरति यन्नच दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ॥ ५७ ॥

[रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

भावार्थ—जो दूसरे के रक्खे हुए, गिरे हुए, भूले हुए और धरोहर रक्खे हुए द्रव्य को न तो हरे और न दूसरों को देवे वह स्थूल चोरी से विरक्त होना अचौर्य अणुव्रत है।

कहा भी है -

"मालिक की आज्ञा विन कोई, चीज गहे सो चोरी होई"

संसार में धन भी पुरुषों का ११ ग्यारहवां प्राण है। अर्थात् जिस प्रकार पुरुष को प्राण प्यारे होते हैं उसकी प्रकार धन भी प्रिय

होता है। धन का नाश जीवन नाश सा माना जाता है। इसलिये चोरी कभी नहीं करनी चाहिये।

चोरी का वर्णन इसी ग्रन्थ में हम पहले बहुत कुछ कर चुके हैं। चोर के साथ राजा तथा प्रजा का कैसा व्यवहार होता है इस को भी हम पूर्व दिखा चुके हैं।

अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार और उनका स्वरूप

"स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः" [तत्वार्थसूत्र-उमास्वामी]

अर्थ—स्तेनप्रयोग १ तदाहृतादान २ विरुद्धराज्यातिक्रम ३ हीनाधिकमानोन्मान ४ और प्रतिरूपक व्यवहार ५ ये पांच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं। इनका विशेष विवरण इस प्रकार है—

१ स्तेनप्रयोग—चोरी का प्रयोग करना या अन्य को चोरी का प्रयोग बताना स्तेन प्रयोग है। जैसे:—आज वह पुरुष यहां नहीं है, तुम जाकर उस स्थान से उस मकान में प्रवेश कर अमुक स्थान पर उसकी बहुमूल्य वस्तु पड़ी हुई है उसको ले आना, हमदोनों बांट लेवेंगे आदि इसका नाम स्तेनप्रयोग है।

२ तदाहृतादान—चोर से लाये हुए धन को कम मूल्य में स्वयं लेना अथवा अन्यों को दिलवाना, तदाहृतादान नाम का अचौर्याणुव्रत का अतिचार है।

३ विरुद्धराज्यातिक्रम—राजा की आज्ञा के विरुद्ध व्यवहार करना, या राज्य के नियमों का उल्लंघन करना एवं राज नियम को लंघन करने वालों को सहायता देना और सहायता देकर प्रसन्न होना विरुद्ध राज्यातिक्रम नामका अतिचार है।

४ हीनाधिकमानोन्मान—तोलने के बाट आदिक, नापने के गज आदि हाथ इत्यादि, मापने के पायली पाई इत्यादि चीजों को पदार्थ लेते समय के लिए अधिक रखना लेना और देने वालों के लिए कमती रखना, हीनाधिकमानोन्मान नाम का अचौर्याणुव्रत का अतिचार है। इससे राज दण्ड भी मिलता है।

५ प्रतिरूपक व्यवहार—अधिक मूल्य की वस्तु में अल्प मूल्य की वस्तु मिलाकर बेचना या ऐसी बातें अन्य को सिखादेना या अन्य से करादेना प्रतिरूपक व्यवहार नाम का अतिचार है। ऐसा कार्य करने से राज दण्ड भी मिलता है, वह लोक में निन्द्य तथा अविश्वसनीय हो जाता है।

अचौर्याणुव्रत की पांच भावनाएं और उनका स्वरूप

"शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पंच ६-७ [तत्वार्थसूत्र—उ०स्वामी]

अर्थ १ शून्यागार २ विमोचितावास ३ परोपरोधाकरण ४ भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसंवाद ५ ये अचौर्याणुव्रत की पांच भावनाएं हैं। इनका विशेष विवरण इस प्रकार है—

१ शून्यागार—शून्य गृह, श्मसान गिरि की गुहा नदीतट या वृक्षों के कोटरों मे रहने की भावना करना है।

२ विमोचितावास—गृहस्थ जिस स्थान को रहने से छोड गये हों, जिसमें दूसरों का झगडा नही हो, उसमें रहना विमोचितावास है।

३ परोपरोधाकरण—अन्य के स्थान में बल पूर्वक नहीं ठहरना और ठहरे हुए को बल पूर्वक हटाने का प्रयोग नहीं करना, परोपरोधाकरण नाम की भावना है।

४ भैक्ष्यशुद्धि—कर्म के क्षयोपशम के अनुसार प्राप्त हुए भोजन को शांति के साथ ग्रहण करना, उसमें हर्ष विषाद नही करना और न उसमें आर्त रौद्र परिणाम करना, भैक्ष्य शुद्धि नाम की भावना है।

५ सधर्माविसंवाद—सदधर्मी पुरुषों से किसी कार्यवश खोटे कारण मिलजावें तो भी शांत परिणाम रखना सधर्मा विसंवाद भावना है।

इस प्रकार अचौर्याणुव्रत की पांच भावनाओं को याद रखना चाहिये, जिससे यह व्रत प्रौढ़ बनजावे। इनका सदा अभ्यास करते रहना चाहिये।

ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप

"न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पाप भीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसंतोषनामापि" ॥ ५९ ॥ रत्न श्रा०]

अथ—जो पाप के भय से न तो पर स्त्री के प्रति स्वयं गमन करे और न अन्य को गमन करावे और अपनी स्त्री में ही संतोष रखे उसको परदारनिवृत्ति अथवा स्वदारसंतोष अर्थात् ब्रह्मचर्याणुव्रत कहते हैं।

परदारा गृहीत हो या अगृहीत अथवा गृहीतागृहीत अर्थात् वेश्या हो, उनके सेवन का त्याग और जिसके साथ धर्मानुकूल देव शास्त्र की साक्षी से पाणिग्रहण हुआ हो उसके अतिरिक्त स्त्री मात्र का त्याग करना चाहिए। एक ही विवाह करने की यदि प्रतिज्ञा नहीं है तो अन्य विवाह करके उससे भी भोग कर सकता है। पर्व के दिनों में अपनी स्त्री से भी विषय सेवन नहीं करना चाहिये। इस व्रत को स्वदार संतोष व्रत कहते हैं।

कवि ने कहा भी है।

"व्याही वनिता होय जो या में कर संतोष।
त्याग करो पर कामिनी या सम और न दोष ॥ ४ ॥
"स्वनार्यामपि निर्विण्णः सन्ततेः कुरुते रतिम्।
शीतं नुनुत्सुर्वा वह्नौ ब्रह्मचारी न पर्वणि ॥ ६५ ॥ [धर्म सं० श्रावकाचार]

अर्थ—स्वदार संतोष व्रत पालने वाले ब्रह्मचारी पुरुषों को अपनी स्त्री में विरक्त रहना चाहिये और अष्टमी तथा चतुर्दशी आदि पर्व के दिनों में भी विषयों का सर्वथा परित्याग करना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार शीत की बाधा दूर करने के लिये पुरुष अग्नि को सेवन करता है न कि हाथ जलाने के लिये, उसी प्रकार स्त्री का सेवन इसलिये किया जाता है कि यदि हमारे संतान हो जावे तो हम गृहस्थ का भार उस पर रखकर निवृत्ति मार्ग में चले जावें न कि कर्म बंधन के लिये विषय सेवन किया जाता है, जिससे आत्म-कल्याण न करके संसार में भ्रमण करता रहे।

कहा भी है—

जो परनारी निहार निलज्ज हंसै विगसैं बुधि हीन बड़ेरे।
झूंठन की जिमि पातर देखि खुशी उर कुक्कर होत घनेरे ॥

है जिनकी यह टेव वहै तिनको इस भौ अपकीरत है रे।
ह्वै परलोक विषै दृढदण्ड करै शत खण्ड सुखाचल कै रे॥

तात्पर्य—जो पुरुष कौवे और कुत्ते के समान अर्थात् जिस प्रकार झूंठी पातल को देखकर कौवा और कुत्ता प्रसन्न होता है उस प्रकार दूसरे से भोगी हुई स्त्री को देखकर प्रसन्न होते हैं एवं अपने परिणामों को दूषित करते हैं वे पुरुष परलोक में घोर दुःखों को भोगते हैं।

ब्रह्मचर्याणु व्रत के पांच अतिचार और उनका स्वरूप

"परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंगक्रीड़ाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥ ७। २८ ॥ [तत्वार्थसूत्र–उमास्वामी]

अर्थ—पर विवाह करण १ परिगृहीतेत्वरिकागमन २ अपरिगृहीतेत्वरिका गमन ३ अनंगक्रीड़ा ४ और कामतीव्राभिनिवेश ५ ये पांच ब्रह्मचर्याणु व्रत के अतिचार हैं। विशेष इस प्रकार जानना चाहिए—

१ परविवाहकरण—अपने पुत्र और पुत्रियों के अतिरिक्त अन्य पुरुषों के लड़के और लड़कियों का विवाह करादेना या मेल मिला देना अथवा अन्यों के द्वारा करा देना परविवाहकरण नाम का ब्रह्मचर्याणुव्रत का प्रथम अतिचार है।

२ परगृहीतेत्वरिकागमन—दूसरे से विवाहित व्यभिचारिणी स्त्री के यहां, आना जाना तथा उसके साथ कुशील सेवन करने की खोटी चेष्टा करना ब्रह्मचर्याणुव्रत का द्वितीय अतिचार है।

३ अपरिगृहीतेत्वरिकागमन—अर्थात् जिनका कोई स्वामी नहीं है ऐसी वेश्या आदि तथा बालिकादिक या और भी व्यभिचारिणी स्त्री हो उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना उनसे काम सेवन की चेष्टा करना ब्रह्मचर्याणुव्रत का तृतीय अतिचार है।

४ अनंग क्रीड़ा—काम सेवन के अंगों को छोड़ कर अन्य अंगों से काम सेवन की क्रीड़ा करना, विशेष मैथुन की इच्छा रखना ब्रह्मचर्याणुव्रत का अनंग क्रीड़ा नामका चतुर्थ अतिचार है।

५ कामतीव्राभिनिवेश—द्रव्य क्षेत्र काल और भाव का विचार न रखकर स्वस्त्री से भी काम सेवन की अत्यन्त लालसा रखना कामतीव्राभिनिवेश नाम का ब्रह्मचर्याणुव्रत का पाँचवां अतिचार है।

गृहस्थ को चाहिये कि ब्रह्मचर्याणुव्रत का, पांचों अतिचारों को टालकर पांचों भावनाका अभ्यास करता हुआ, पालन करे और ब्रह्मचर्यव्रत में दृढ बनारहे।

ब्रह्मचर्याणुव्रत की ५ पांच भावनायें और उनका स्वरूप

"स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच"

[तत्वार्थसूत्र—उमास्वामी]

अर्थ—स्त्री राग कथा श्रवण त्याग १ स्त्री मनोहरांग निरीक्षण त्याग २ पूर्वरतानुस्मरण त्याग ३ कामोद्दीपन रसका त्याग ४ और स्वशरीर संस्कार त्याग ५ ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रत की भावनायें हैं।

१ स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग—स्त्री के रागवर्धक आख्यानों को कहने एवं सुनने, रसीले गीत आदि का सुनने एवं चित्त रञ्जन के उनके गीत आदि पढ़ने का त्याग करना स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग नाम की ब्रह्मचर्याणुव्रत की प्रथम भावना है।

२ स्त्रीमनोहरांगनिरीक्षणत्याग—स्त्रियों के मनोहर अंगों को राग सहित देखने का त्याग करना स्त्रीमनोहरांगनिरीक्षण त्याग नामक ब्रह्मचर्याणुव्रत की दूसरी भावना है।

३ पूर्वरतानुस्मरणत्याग—प्रथम भुक्त भोगों को याद करने का त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत की तीसरी भावना है।

४ कामोद्दीपनरसत्याग—काम को उत्तेजित करने वाले पौष्टिक पदार्थों का त्याग करना कामोद्दीपनरसत्याग नाम की ब्रह्मचर्याणुव्रत की चतुर्थ भावना है।

५ स्वशरीरसंस्कारत्याग—कामी जनों के सदृश अपने शरीर के संस्कारों का त्याग करना अर्थात् शृंगार आदि नहीं करना, सदैव साधारण वस्त्र आभरण पहरना, जिससे अन्य के अथवा अपने मन में विकार पैदा न हो, उसको स्व संस्कार त्याग नाम की ब्रह्मचर्याणुव्रत की पांचवीं भावना कही है।

इस प्रकार की भावनाओं से ब्रह्मचर्याणुव्रत में पुष्टि आती है।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत का स्वरूप

"धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।

परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छा परिमाणनामाऽपि ॥ ६१ ॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

अर्थ—धन धान्यादि दश प्रकार के चेतन और अचेतन रूप परिग्रह में ममत्व रूप परिणामों को रोक कर के परिमाण करना अर्थात् सीमा निश्चित करलेना परिग्रह परिमाणाणुव्रत है। जैसे बाह्य में स्त्री पुत्र दासीदास परिवार गाय भैंस हाथी घोड़ा धन धान्य सुवर्ण रूपा माणिक मोती शय्या आसन गृह आभरण वस्त्रादिकों का परिमाण करके उससे अधिक की इच्छा का परित्याग करना एवं आभ्यन्तर में क्रोध लोभादि रूप रागादि भाव परिणामों मे उत्कृष्टता का एवं उत्कटता का अभाव रूप करना एवं परिग्रह की मर्यादा करना। परिग्रह की परिगणना एवं मर्यादा करने से पुरुष की लालसा कम हो जाती है और लालसा से निवृत्ति प्राप्त करना ही निवृत्ति मार्ग का अवलम्बन करना एवं मोक्षमार्ग पर आरूढ होने के लिये प्रस्तुत होना है। बिना मर्यादा के यह लालसा गृहस्थों को व्याधि रूप होकर बहुत सताती है। यह लालसा ही जीवको नरक और निगोद पर्याय तक पहुंचा देती है। अतः इस लालसा पिशाचीनी का परित्याग ही कल्याण मार्ग है। कहा है:—

"धनकन कांचन आदिदे परिग्रह संख्याठान।
तृसना नागिन वसकरो यह व्रत मंत्र महान् ॥"
"संसारद्र म मूलेन किमनेन ममेतियः।
निःशेषं त्यजति ग्रन्थं निर्ग्रन्थं तं विदुर्जिनाः ॥ ८४१ ॥ [सुभाषित रत्न संदोह]

भावार्थ—यह परिग्रह संसार रूपी वृक्ष का मूल कारण एवं बीज भूत है, इससे मेरा क्या प्रयोजन है, ऐसा समझ कर जो समस्त परिग्रह का त्याग करदेते हैं वे महा मुनि होते हैं। और सर्व परिग्रह को सर्वथा त्यागने में असमर्थ शीतोष्णता के निवारणार्थ आवश्यकतानुसार जो २ परिग्रह चाहिये, उन्हें ही रखते हैं वे परिग्रहत्यागाणुव्रती एवं परिग्रहपरिमाणव्रतधारी श्रावक होते हैं। परिग्रह परिमाणव्रत के धारण करने से प्रथम प्रतिमाधारी दार्शनिक श्रावक बन जाता है।

यह परिग्रह व्याघ्र के तुल्य है, आत्मा रूपी पशु उसका शिकार है। इस परिग्रह के लवलेश से ही कषाय चतुष्टय का उपशम करने पर भी एकादशगुणस्थान मे मुनि आकर गिरजाते हैं और फिर अर्ध पुद्गल परावर्तन काल तक उनको संसार के जन्म और मरण रूप दुःख उठाने पड़ते हैं। भगवान उम्मास्वामि तत्वार्थसूत्र में इस परिग्रह के वास्ते कहते हैं:—

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥

अर्थ - बहुत आरंभ करना और बहुत परिग्रह रखना नरक आयु के आश्रव का कारण माना है।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचार और उनका स्वरूप।

"क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः। २७ ॥ ७ ॥ [तत्वार्थसूत्र—उमास्वामी]

अर्थ—क्षेत्रवास्तु १ हिरण्य सुवर्ण २ धनधान्य ३ दासीदास ४ और कुप्य ५ इन पांच वस्तुओं के प्रमाण एवं परिमाण का अतिक्रमण करने से ही परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के पांच अतिचार बन जाते हैं।

१ क्षेत्रवास्तुपरिमाणातिक्रम—धान्यादिक उत्पन्न होने के स्थान का नाम क्षेत्र है। रहने के गृह मकान आदि को वास्तु कहते हैं। इनका परिमाण करके अतिक्रमण करना क्षेत्र-वास्तु-परिमाणातिक्रम नामका परिग्रह परिमाण व्रत का अतिचार है।

२ हिरण्यसुवर्णपरिमाणातिक्रम—रुपये तथा चांदी के भूषणों को हिरण्य कहते हैं। सोने तथा उसके भूषणों को सुवर्ण कहते हैं। इनके परिमाण का अतिक्रमण करना हिरण्य-सुवर्ण-परिमाणातिकम नामका परिग्रह परिमाण व्रत का दूसरा अतिचार है।

३ धनधान्यपरिमाणातिक्रम—गौ-बैल-भैंस-हाथी-घोड़ा आदि को धन कहते हैं। गेहूं ज्वार मूंग उड़द मक्की जव आदि को धान्य कहते हैं। इनके परिमाण का अतिक्रमण करना धन-धान्य-परिमाणातिक्रम नाम का अतिचार है।

४ दासीदास-परिमाणातिक्रम—शरीर व अपने टहल चाकरी के लिये रखे गये नौकर तथा मुनीम आदि दासी एवं दास हैं उनका परिमाणातिक्रम नाम का अतिचार है।

५ कुप्यपरिमाणातिक्रम—कुप्य में वस्त्र थाली आदि सब आजाते हैं। सुवर्ण और चांदी को छोड़ कर शेष सबधन कुप्य शब्द से कहा जाता है। इन सब पदार्थों में परिमाण का अतिक्रमण करना कुप्यपरिमाणातिक्रम नाम का परिग्रह परिमाण व्रत का पांचवा अतिचार है।

अतिचार का लक्षण तथा परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अन्य अतिचार

"अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ॥ ६२ ॥ [रत्नकरंड श्रा०]

भावार्थ—नियम करके उससे अधिक वस्तु पर ममता करना व्रतों का अतिचार कहा है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य के अनुसार परिग्रह परिमाण व्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं—

१ अतिवाहन—लोभ के वशीभूत होकर एवं अच्छी देखकर मर्यादा से अधिक सवारी आदि का संग्रह करना अति वाहन नामका अतिचार है।

२ अतिसंग्रह—लोभ के वशीभूत होकर प्रयोजन से अधिक एवं मर्यादा से बाहर अधिक संग्रह करना अतिसंग्रह नाम का अतिचार है।

३ विस्मय—कषाय के वश होकर दूसरों का वैभव देखकर मन में ईर्षा व द्वेष करना विस्मय नाम का अतिचार है।

४ लोभ—सर्व प्रकार के परिग्रह में लालसा रखना लोभ की मात्रा को अन्तरङ्ग में रखना लोभ नाम का अतिचार है।

५ अति भारवाहन—गाड़ियों में पशुओं पर मर्यादा से अधिक भारलादना अति भारवाहन नाम का अतिचार है।

इस प्रकार के अतिचारों को दूर कर के व्रत पालने चाहिये।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत की पांच भावनायें और उनका स्वरूप

"मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पच" । ८ ॥ ७ ॥ [तत्वार्थसूत्र—उमास्वामी]

अर्थ—मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ पांचों इन्द्रियों के विषय में राग द्वेष का परित्याग करना परिग्रह परिमाण व्रत की पांच भावनायें हैं। पांचों इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों में राग और अमनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना परिग्रह परिमाण व्रत की भावनाये हैं।

परिग्रहपरिमाण व्रत की भावनाओं से मोह घटता है, एवं आत्म—कल्याण होता है। अतः व्रतों के अतिचारों को वर्जित करके तथा भावनाओं को भाकर व्रतों की पूर्ण दृढता करनी चाहिये।

अतिचार अनाचार में भेदः—

"अतिक्रमोमानसशुद्धिहानिः व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः।

तथातिचारं करुणालसत्वं भंगोह्यनाचारमिह व्रतानि" ॥

अर्थ—मन की शुद्धि में हानि का नाम अतिक्रम है। विषयों की अभिलाषा करने का नाम व्यतिक्रम है। तथा व्रतों के आचरण में प्रमाद एवं आलस्य तथा शिथिलता करने का नाम अतिचार है। और व्रतों के भंग करने का नाम अनाचार है।

इसी की पुष्टि में दूसरा प्रमाण यह है—

क्षतिं मनःशुद्धि विधे रतिक्रमं,
व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलंघनम्॥
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं।
वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम्॥ ६ ॥ [अमितिगति आचार्य]।
[सामायिक पाठ एवं सामायिक बतीसी]

अथ—मन की शुद्धि में क्षति होना अतिक्रम है। शीलव्रत का लंघन करना व्यतिक्रम है। विषयों में प्रवृत्ति करना अतिचार है और विषयों में अत्यासक्ति का नाम अनाचार है।

इस प्रकार व्रतों के स्वरूप, अतिचार तथा भावनाओं का वर्णन किया है ये पांचों व्रत निरतिचार रूप से पहली व्रत प्रतिमा में पलते हैं।

जैन वाङ्मय में पांच अणुव्रत और तीन गुणव्रत बतलाये हैं क्योंकि गुणव्रत अणुव्रतों को महाव्रत रूप बनाने का गुण रखते हैं अतः उनको गुणव्रत कहते हैं।

तीन गुण व्रतों के अतिरिक्त चार शिक्षाव्रत वे भी अणुव्रतों को महाव्रत रूप होने की शिक्षा देते हैं। अतः उनको आचार्यों ने शिक्षा व्रत कहा है तथा क्रमवर्ती रक्खा है।

तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत ही मिल कर सात शीलव्रत कहलाते हैं।

जब प्रतिमा पालन करते समय प्रथम व्रत प्रतिमा ग्रहण की जाती है तो निरतिचार पांच अणुव्रत लिये जाते हैं उसके बाद द्वितीय

प्रतिमा में सातिचार शील सप्तक ग्रहण करते हैं। जैसे २ ऊपर की प्रतिमा ग्रहण की जाती है उसी २ प्रकार उसको अतिचार दूर करने पड़ते हैं।

रात्रिभोजनत्याग व्रत

आचार्यों ने रात्रि भोजन का त्याग भी छठा व्रत माना है। उसका उल्लेख मूलाचार, चारित्रसार, सागारधर्मामृत तथा अनेक श्रावकाचारों में मिलता है। उसका संक्षिप्त वर्णन यहाँ करते हैं।

"वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद्ग्रन्थान्निवर्तनम्।
पञ्चधाऽणुव्रतं राज्यभुक्तिः षष्ठमणु व्रतम् ॥ १ ॥ [चारित्र सार मूल ७]

अर्थ—हिंसा-असत्य-चौरी-मैथुन और परिग्रह से निवृत्त होने से अणुव्रत पांच प्रकार का अर्थात् अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत (स्वदार संतोष) और परिग्रह परिमाण ये पांच अणुव्रत हैं। रात्रि भोजन त्याग नाम का छठा अणुव्रत है।

"रात्रावन्नपानखाद्यलेह्येभ्यश्चतुर्भ्यः सत्वानुकम्पया विरमणं षष्ठमणुव्रतम्" [चरित्रसार चामुण्डराय]

अर्थ—रात्रि में अन्न-पान-खाद्य और लेह्य चारों प्रकार के भोजनों से, प्राणियों पर अनुकम्पा की दृष्टि से, जो रात्रि में विरत होना है अर्थात् रात्रि भोजन का त्याग करना है वह रात्रि भोजन विरमण नाम का छठा अणुव्रत है।

रात्रि में दृष्टिगत न होने के कारण अनेक त्रस जीवों की हिंसा होती है अतः उनके ऊपर दया भाव रखते हुए रात्रि भोजन का त्याग छठा अणुव्रत श्रावक अवश्य पालन करे।

और भी कहा है।

अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धापि सदाधीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥ २४ ॥ [चतुर्थाध्याय सागारधर्मामृत]

अर्थ—अहिंसा व्रत रक्षा के लिये तथा मूल-व्रत की रक्षा के लिये तथा मूलव्रत की शुद्धि के निमित्त श्रावक को चाहिये कि मन वचन और काय से अन्न-रोटी, दाल, भात आदि; पान-दुग्ध, शर्बत पानी अर्क आदि, खाद्य-पेड़े बरफी कलाकंद लड्डू आदि और लेह्य-

चाटने योग्य पदार्थ तथा चव्य—जैसे पान सुपारी इलायची आदि भी जीव रक्षा निमित्त रात्रि में न ग्रहण करें।

आगे अमृतचन्द्राचार्यकृत पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय से भी इसकी पुष्टि करते हैं।

"रात्रौ भुंजानानां यस्मादनिवारिताः भवति हिंसा ।
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥ १२९ ॥

अर्थ—हिंसा से बचने वाले प्राणियों को सदा रात्रि भोजन से बचते रहना चाहिये। क्योंकि रात्रि भोजन करने वाला प्राणी हिंसा के पास से नहीं बच सकता। रात्रि को नियम से त्रस जीव मरते हैं और उस का पाप रात्रि भोजन करने वाले को ही लगता है। इस कारण हिंसा से दूर होने के लिये रात्रि भोजन भी श्रावक को अवश्य २ त्याग देना चाहिये। एवं श्रावक हिंसा के पाप से भयभीत होकर रात्रि भोजन अवश्य त्याग देते हैं। रात्रि भोजन त्याग का महत्व मानकर आचार्य उसे छठा अणुव्रत कहते हैं।

रात्रि भोजन त्याग व्रत के अतिचार

रात्रिमांहि बना कर खाना, दिन में जो भोजन पकवान।
दिनका बना रात्रि में खाना, दोनों भोजन एक समान ॥
जिस थानक पर भोजन बनता, चंदवा जो नहीं वहां रखान।
चंदवा बिन भोजन नहीं रखना प्राणी हिंसा होय निदान।
जिस वस्तु से घिन आजावे उसका तुरत ही त्याग करान।
अतीचार रात्रि भोजन के जो पाले नर चतुर सुजान ॥ १ ॥

अर्थ—रात्रि को बनाकर दिन में खाना या दिन में बनाकर रात्रि में खाना या भोजन के लिये और भी ऐसे आरंभ करना जिससे हिंसा हो सके, दिवस में भी ऐसे स्थान पर भोजन करना जहाँ पर अंधकार हो एवं बिना देखे शोधे भोजन करना रात्रि भोजन त्याग का अतिचार है।

जिस स्थान पर भोजन बनाया जावे वह स्थान अत्यन्त प्रकाश मय एवं चंदोवा सहित होना चाहिये। और जहां भोजन रखाजावे

एवं भोजन खाया जावे वहां पर भी चंदोवा अवश्य होना चाहिये। जिस पदार्थ को देखकर घिन आवे उस पदार्थ को नहीं भक्षण करना चाहिये। स्वास्थ रक्षा की दृष्टि से भी रात्रि भोजन का त्याग और भोजनालय की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक हैं।

रात्रि भोजन के त्याग से पाचों व्रतों में निर्मलता आजाती है मुख्य अहिंसा व्रत का पालन हो जाता है अतः जैन मात्र को रात्रि भोजन का अवश्य त्याग करना चाहिये।

व्रत प्रतिमा का स्वरूप

मध्यम नैष्ठिक श्रावक का लक्षण जिसे दूसरी प्रतिमा कहते हैं।

"निर्दोषमणुव्रतं शीलसप्तकैश्च सहातिचारैः।
यः निःशल्यः सव्रती, द्वितीयपदे मध्यनैष्ठिको भवति ॥ २ ॥"

अर्थ—पहिले जो दर्शन प्रतिमा धारी श्रावक का लक्षण कहा है, उस स्थान पर जो पंचाणुव्रत पाले जाते हैं, वे सातिचार पलते हैं, परन्तु इस प्रतिमा में वे निरतिचार पाले जाते हैं, तथा इनके साथ सप्त शील और करने होते हैं, इसीको व्रत प्रतिमा या मध्यम नैष्ठिक श्रावक कहते हैं, इसी प्रतिमा में तीन गुण और चार शिक्षाव्रत ये सात शील सातिचार पलते हैं।

यह प्रतिमा संयमासंयम का मध्य भेद है—क्योंकि पांच इन्द्रिय तथा छठे मन के तथा षट् काय के जीवों में से त्रस काय की तो यह सर्वथा रक्षा करता है, और स्थावरों की रक्षा का प्रयत्न करता है। इसलिये, संयमासंयम यहां से चालू होता है, नीचे की प्रतिमा वाले को संयमी उपचार से कहा है, क्योंकि ऐसा कहने से उनके भावों में उत्कृष्टता बनी रहती है।

दूसरी प्रतिमा में धारण करने योग्य व्रत

पंचाणुव्रतरक्षार्थं, पाल्यते शीलसप्तकम्।
शालवत्क्षेत्रवृद्ध्यर्थं क्रियते महती वृतिः ॥ १—७ ॥ [धर्म० संग्रह श्रावकाचार]

अर्थ—अहिंसा आदि पांच अणुव्रतों की ठीक २ रक्षा के लिये तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, ऐसे सात शील पालन किये जाते हैं। जैसे—धान्य युक्त खेत की रक्षा और वृद्धि के लिये उसके चारों तरफ कांटों की बाड़ लगाई जाती है, वैसे ही इन सातशीलों से अहिंसादि पंचाणुव्रतों की रक्षा का प्रयोजन है।

शीलव्रत के भेद

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥ ७-२१ ॥

[तत्वार्थसूत्र—उमास्वामी]

अर्थ—१ दिग्विरति २ देशविरति ३ अनर्थदण्डविरति ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं। १ सामायिक २ प्रोषधोपवास ३ उपभोग परिभोग परिमाण ४ अतिथि संविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं। ये सात शीलव्रत तथा पूर्वोक्त पंचाणुव्रत इस प्रकार बारह व्रत का धारी, व्रतप्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

कई आचार्य तो देशव्रत को गुणव्रतों में कहते हैं तथा कई आचार्य इस को शिक्षाव्रतों में ग्रहण करते हैं, सो यह शैली (विवक्षा) मात्र का भेद है, तत्त्व में भेद नहीं है।

दिग्व्रत का स्वरूप

दशदिक्ष्वपि संख्यानं, कृत्वा यास्यामि नो बहिः।
तिष्ठेदित्यामृतेयत्र तत्स्याद्दिग्विरतिव्रतम् ॥ ५३-७ ॥ [धर्मसंग्रह श्रावकाचार]

अर्थ—दशों दिशा का परिमाण करके, जन्म पर्यंत इससे बाहिर नहीं जाऊंगा, ऐसी प्रतिज्ञारूप मर्यादा के भीतर रहना, सो दिग्विरति नामा गुणव्रत है।

दिग्व्रत के पांच अतिचार

सीमविस्मृतिरूर्ध्वाधस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमाः।
अज्ञानतः प्रमादाद्वा, क्षेत्रवृद्धिश्च तन्मलाः ॥ ५-५ ॥ [धर्मसंग्रह श्रावकाचार]

अर्थ—की हुई सीमा का अज्ञान से अथवा प्रमाद से भूलजाना १ ऊर्ध्वभाग व्यतिक्रम २ अधोभाग व्यतिक्रम ३ तिर्यग्भाग व्यतिक्रम ४ और क्षेत्र वृद्धि ५ इस तरह ये दिग्विरति के पांच अतिचार हैं।

१ सीमा की विस्मृति—मंद बुद्धि का होना अथवा कोई संदेह आदि हो जाना अज्ञान कहलाता है। अत्यंत व्याकुल होना, अथवा

चित्त की वृत्ति का दूसरी ओर लग जाना प्रमाद कहलाता है। इस प्रमाद या अज्ञान से नियमित की हुई मर्यादा को भूलजाना सो सीमा की विस्मृति है। जैसे किसी श्रावक ने पूर्व दिशा की ओर सौ योजन का परिमाण किया था, कारण वश उसे पूर्व दिशा की ओर जाने का काम पड़ा, तब निश्चित मर्यादा स्मरण नहीं रहने से "मैंने सौ योजन की मर्यादा की थी अथवा पचास की" ऐसी कल्पना करता हुवा, यदि वह पचास योजन के आगे जायगा तो उसे अतिचार होगा, और यदि सौ योजन के आगे जायगा तो उससे व्रत का भंग होगा। मर्यादा विस्मरण में व्रत की अपेक्षा, निरपेक्षा दोनों होने से प्रथम अतिचार होता है।

२ ऊर्ध्वभाग व्यतिक्रम—पर्वतादि के ऊपर चढ़कर की हुई मर्यादा का उल्लंघन करना ऊर्ध्वभाग व्यतिक्रम है।

३ अधोभाग व्यतिक्रम—तलघर, कूप, वापिका, खान इत्यादि नीचे उतरकर की हुई मर्यादा का उल्लंघन सो अधोभाग व्यतिक्रम नामा अतिचार है।

४ तिर्यग्भाग व्यतिक्रम—पूर्व पश्चिम, ईशान, आग्नेय आदि दिशा विदिशाओं में नियमित मर्यादा को भूलकर अतिक्रम करना, तिर्यग्भाग व्यतिक्रम नामक अतिचार है। नं० २ नं० ३ नं०४ इन तीनों में मर्यादा का उल्लंघन यदि केवल मन से अथवा कारित अनुमोदना से किया हो, स्वयं आप बाहर नहीं गया हो तब अतिचार माना है। यदि स्वयं मर्यादा बाहर चलागया हो तो व्रतभग का दूषण होता है।

५ क्षेत्र वृद्धि—दिग्व्रत में नियत की हुई मर्यादा को पश्चिम आदि दिशाओं से घटाकर पूर्वादि दिशाओं की ओर बढ़ालेना, यह क्षेत्र वृद्धि अतिचार है। जैसे-किसी मनुष्य ने पूर्व और पश्चिम की तरफ पांच पांच सौ योजन की मर्यादा की, कारण वश उसे पूर्वदिशा की ओर आठ सौ योजन जाने का कार्य पड़ा, तब लोभ वश उसने पश्चिम की ओर से योजन घटाकर पूर्व की ओर मिला लिया। इस प्रकार एक हजार योजन की दोनों तरफ की मर्यादा थी, सो तो तोड़ी नहीं, इसलिये तो व्रत का अभंग, परन्तु पूर्व की तरफ की मर्यादा बढ़ालेना, पश्चिम की मर्यादा कम कर लेना यह व्रत भंग है—क्योंकि मर्यादा करते समय पूर्व पश्चिम की मर्यादा बढ़ाने घटाने का अभिप्राय नहीं था, और अब बढ़ा घटा लिया। इससे यह अतिचार हो गया, क्योंकि मूल में व्रत की अपेक्षा रखकर मर्यादा का हलचल कर लिया, इसलिये भगाभंग रूप अतिचार होगया।

अगर असावधानी से क्षेत्र की मर्यादा का उल्लंघन हुवा होवे तो वहां से शीघ्र ही लौट आना चाहिये। यदि मर्यादा का ज्ञान होवे तो कदापि आगे नहीं जाना चाहिये, और न अन्य को भेजना चाहिये। कदाचित् आगे चला भी जावे तो जो कुछ वहां उसको प्राप्त हो उसे छोड़ देना चाहिये। ऐसा शास्त्रकारों का मंतव्य है।

देश व्रत का स्वरूप

अथ रात्रिर्दिवा वापि, पक्षो मासस्तथा ऋतु।

अयनं वत्सरः कालावधिमाहुस्तपोधनाः ॥ ३५-७ ॥ [धर्मसंग्रह श्रावकाचार]

अर्थ—दिग्व्रत में की हुई मर्यादा के भीतर भी घटा कर नियम करना सो देशव्रत है। जैसे आज, रात्रि में तथा दिन में पक्ष में महिने में दो महिने में छै महिने में, वर्ष, आदि के द्वारा देश व्रत की मर्यादा करनी चाहिये।

दिग्व्रतपरिमितदेशेऽवस्थानमस्ति मितसमगम् ।
यत्र निराहुर्देशावकाशिकं, तद्व्रतं तज्ज्ञाः ॥ ९२ ॥ [रत्नकरंड श्रा०]
गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदाव योजनानाम् च ।
देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः ॥ ९३ ॥

अर्थ—तप में वृद्ध जो गणधरादिक हैं वे इस प्रकार देशव्रत की मर्यादा का वर्णन करते हैं-कि जो तुमने दिग्व्रत की मर्यादा की है, उसमें भी रोज का नियम करो, अपनी शक्ति माफिक गमनागमन घटाओ। जैसे-आज मैं अमुक ग्राम, अमुक मोहल्ला, अमुक घर, अमुक कटक, या अमुक योजन तक ही जाऊंगा इत्यादि।

देशव्रत के पांच अतिचार

पुद्गलक्षेपणं शब्दश्रावणं स्वांगदर्शनम् ।
प्रैषं सीमबहिर्देशे, ततश्चानयनं त्यजेत् ॥ २७-५ ॥ [सा० ध०]

अर्थ—सीमा के बाहर ढेले आदि फेंकना १ शब्द सुनाना २ अपना शरीर दिखाना ३ किसी अन्य को भेजना ४ सीमा बाहिर से कुछ मंगाना ५ इन पांच अतिचारों को त्यागना चाहिये। अब इनका पृथक् २ खुलासा करते हैं।

१ पुद्गल क्षेपण—नियत की हुई सीमा के बाहर स्वयं न जासकने के कारण अपने किसी अभिप्राय से बाहर कुछ काम करने वाले लोगों को सूचना देने के लिये ढेले पत्थर आदि फेंकना, सो पुद्गल क्षेपण है।

२ शब्द श्रावण—मर्यादा से बाहर के मनुष्यों को अपने समीप बुलाने आदि हेतु से, उनको सुनाई पड़े ऐसी रीति से चुटकी

बजाना ताली पीटना, खकारना आदि शब्द श्रावण अतिचार है।

३ स्वांग दर्शन—अपने समीप बुलाने आदि के हेतु से शब्द का उच्चारण नहीं करके, जिसको बुलाना है उसे अपना शरीर या अवयव आदि दिखाना सो स्वांग दर्शन नाम्म अतिचार है। इसका दूसरा नाम रूपानुपात भी है, ये तीनों ही यदि अभिप्राय पूर्वक किये जावें तो अतिचार होते है, यदि विना अभिप्राय या कपट के सहज रीति से हो जावे तो अतिचार नहीं है।

४ प्रेषण—स्वयं मर्यादित जगह पर ही रहकर, सीमा के बाहर के अपने कार्य के लिये किसी सेवक आदि को "तुम यह कार्य करो वहां जाओ"। इत्यादि रूप से प्रेरणा करने या भेजने को प्रेषण अतिचार कहते है।

५ आनयन—अपनी किसी इष्ट वस्तु को नियत सीमा के बाहर से, किसी भेजे हुए मनुष्य के द्वारा अथवा अन्य किसी तरह अपनी सीमा के भीतर मंगा लेने को आनयन कहते हैं। दिग्व्रत और देशव्रत धारण करने से मनुष्य बाहरी चिन्ताओं से मुक्त होकर अपने कर्त्तव्य और धर्मानुष्ठान में दत्तचित्त होता है।

अनर्थदण्डव्रत का स्वरूप

पीड़ापापोपदेशाद्यै र्देहाद्यर्थाद्विनांगिनाम्।
अनर्थदण्डस्तत्त्यागोऽनर्थदण्डव्रतं मतम् ॥ ६—५ ॥ [सागार धर्म०]

अथ—अपने अथवा अपने मनुष्यों के, शरीर, वचन और मन के प्रयोजन के विना १ पापोपदेश २ हिंसादान ३ दुःश्रुति ४ अपध्यान ५ प्रमादचर्या इन पांच निरर्थक व्यापारों से त्रस तथा स्थावर जीवों को पीड़ा देना, अनर्थदण्ड है, और इस प्रकार निः प्रयोजन व्यापार को त्याग देना सो अनर्थ दण्ड व्रत है।

पापोपदेश अनर्थदण्ड

तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारंभप्रलंभनादीनाम्।
कथाप्रसंगप्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः ॥ ७६ ॥ [रत्नकरंड श्रा०]

अर्थ—जिससे तिर्यंचों को क्लेश उपजे, ऐसी तथा, वाणिज्य हिंसा, आरंभ, ठगाई इत्यादि की कथाओं के प्रसंग को उत्पन्न करना, सो पापोपदेश है। इसको त्याग करना चाहिये।

हिंसादान अनर्थदण्ड

परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृंगशृंखलादीनाम् ।
वधहेतूनां दानं, हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥ ७७ ॥ [रत्नकरंड श्रा०]

अर्थ—फरसा, तलवार, खनित्र (फावड़ा, गैंती, सब्बल) अग्नि, बरछी, भाला, चाकू, सींगी, सांकल आदिक हिंसा के उपकरणों को किसी के मांगे हुए देने में महान् पाप होता है, क्योंकि इनको लेजाकर वह कार्य करेगा, जिसमें हिंसा अवश्य होगी। वह पाप देने वाले के मत्थे पड़ेगी। क्योंकि वह न यह आयुध देता और न हिंसा होती। इससे इनके देने का त्याग करना चाहिये। हिंसक आयुधों में हल बक्खर गाड़ी, घोड़ा, ऊंट, गधा किराये से देना और अग्नि के कार्य करना, जैसे चूना के भट्टे लगावना, ईंटें पकवाना तथा और भी ऐसे कार्य करना जिसमें व्यर्थ हिंसा और आरंभ होये, उनको त्यागदें।

अपध्यान अनर्थदण्ड

वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः ।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदा ॥ ७८ ॥ [रत्नकरंड श्रा०]

अथ—जिन शासन में जो पंडित हैं वह इस प्रकार के कर्तव्य को जैसे-रागद्वेष से दूसरों की हानि पहुंचाना, या वध बंधन करादेना, अपने चित्त में किसी को हानि पहुंचाने का विचार करना, किसी स्थान पर अच्छा समुदाय होवे वहां के लोगों को उलटा समझाकर फूट करादेना या किसी की स्त्री को और प्रकार से समझाकर उसकी हंसी उड़ाना, दूसरों को नीचा दिखाकर या कलह कराकर आप बड़ा आनंद मानना इत्यादि सब अपध्यान अनर्थ दण्ड है। इस का त्याग करना चाहिए।

दुः श्रुति अनर्थदण्ड

आरंभसंगसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः ।

चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥ ७९ ॥ [रत्न करंड श्रा०]

अर्थ—चित्त को रागद्वेष से कलुषित करने वाले, काम को जाग्रत करने वाले, मिथ्यात्व का आश्रय बढाने वाले। आरंभ परिग्रह को बढ़ाने वाले, पापों में प्रवृत्ति कराने वाले, क्रोध मान माया लोभ को जाग्रत करने वाले या बढ़ाने वाले, जीवों को महाक्लेश पहुंचाने वाले, आरंभ परिग्रह साहस मिथ्यात्व द्वेष राग मद मदन इत्यादि की प्रवृत्ति रूप शास्त्रों या कथाओं का सुनना यह पापप्रवृत्ति का बीज भूत अनर्थदण्ड दुःश्रुति नामका अनर्थदण्ड है। इसका त्याग करना चाहिये।

प्रमादचर्या अनर्थदण्ड

क्षितिसलिलदहनपवनारंभं, विफलंवनस्पतिच्छेदं ।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्या प्रभापन्ते ॥ ८० ॥ [रत्नकरंड श्रा०]

अर्थ—विना प्रयोजन, चलना फिरना, बकवाद करना, दौड़ना दौड़ाना, पृथ्वी जल, अग्नि, पवन का आरंभ करना, वनस्पति छेदना छिदवाना तोड़ना तुड़ाना, विना प्रयोजन किसी भी सावद्य कार्य का करना, प्रमाद चर्या नामा अनर्थदण्ड है।

ये अनर्थदण्ड महापाप हैं, इनका संपर्क शीघ्र ही होजाता है, इसलिये बुद्धिमानों को इनसे बचना चाहिये।

अनर्थदण्ड व्रत के पांच अतिचार

कंदर्पकौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पंच ।
असमीक्ष्य चाधिकरणं, व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः ॥ ८१ ॥ [रत्नकरंड श्रा०]

अर्थ—१ कंदर्प २ कौत्कुच्य ३ मौखर्य ४ अतिप्रसाधन ५ असमीक्ष्याधिकरण, ये अनर्थदण्ड व्रत के पांच अतिचार हैं। इनको त्यागना चाहिये। इनका खुलासा इस प्रकार है—

१ कंदर्प—राग के उद्रेक से हास्य मिश्रित, अशिष्ट वचन बोलना, अथवा काम उत्पन्न करने वाले, या काम प्रधान वचन कहना, सो सब कन्दर्प नामा अतिचार है।

२ कौत्कुच्य – हास्य और भण्ड वचन सहित, भौंह नेत्र ओष्ठ हाथ पैर नाक मुख आदि की कुत्सित चेष्टा करना यानी विकारों को धारण करना, यह कौत्कुच्य नामा अतिचार है। ये दोनों प्रमाद चर्या नामा अनर्थ दण्ड व्रत के अतिचार हैं।

३ मौखर्य—धृष्टता पूर्वक, विचार और सम्बन्ध रहित, तथा असत्य बकवाद करना मौखर्य नामा अतिचार है। यह पापोपदेश नामा अनर्थदण्ड व्रत का अतिचार है, क्यों कि व्यर्थ या अधिक वचनों से पाप का उपदेश संभव है।

४ अति प्रसाधन—प्रयोजन से अधिक आरंभ व सग्रह आदि करना, जैसे किसी को कहना–तू बहुत सी चटाइयां लेआ, जितनी मुझे चाहिये, उतनी मैं खरीद लूंगा जो बाकी बचेंगी, उनके बहुत से ग्राहक हैं, उनके द्वारा खरीदवा दूंगा, इत्यादि कहकर बिना विचारे चटाई आदि बुनने वालों से बहुत सा आरंभ और हिंसा कराना, तथा इसी प्रकार लकड़ी काटने वालों, ईंट पकाने वालों आदि से, भी, आरंभ व अधिक हिंसा कराना अति प्रसाधन है। असमीक्ष्याधिकरण हिंसा के उपकरणों को इसी हिंसा के उप करणों के साथ व समीप रखना जैसे–ओखली के साथ मूसल, हल के साथ उसका फाला, गाड़ी के पास उसका धुरा, धनुष के पास बाण रखना आदि ये सब असमीक्ष्याधि करण नामा अतिचार हैं। क्योंकि जब यह हिंसा के उपकरण समीप रक्खे होंगे तो हर कोई मनुष्य इनसे कूटना आदि कार्य कर सकता है। यदि अलग २ रक्खे होंतो सहज ही दूसरों को निषेध हो सकता है। इस प्रकार यह असमीक्ष्याधिकरण नाम का पांचवा अतिचार है।

विशेष—अतिप्रसाधन नामा अतिचार को सेव्यार्थाधिका, या भोगोप भोगानर्थक्य भी कहते हैं। जैसे-तेल खल्ली मुलतानी मिट्टी) आँवला, आदि स्नान करने के साधन साथ में लेकर तालाब पर जाय तो उन चीजों के लोभ से बहुत से मित्र साथ हो लेते हैं, वे सब तैलादि मर्दन कर तालाब में खूब स्नान करते हैं, जिससे जलकायिक आदि बहुत से जीवों की हिंसा होती है और वह हिंसा तैल आदि पदार्थ लेजाने वाले को लगती है, इसलिये ऐसा न करके घर पर ही स्नान करे। कदाचित् घर पर स्नान नहीं कर सके तो शरीर में तैलादि सब कार्यों से घर पर ही निमट कर तलाब आदि के किनारे भी छने हुए जल से स्नान करना चाहिये, इस प्रकार जिन कामों से हिंसादि पापों का संबध संभव हो, सबको छोड़ना ही चाहिये, अन्यथा प्रमादचर्या त्याग में अतिचार लगता है।

इस प्रकार तीन गुण व्रतों का वर्णन समाप्त हुवा।

शिक्षाव्रतों के भेद

सामायिकं वा प्रोषधोपवासभोगपरिभोग्यानि।
अतिथिसंविभागव्रतानि चत्वारि शिष्टानि॥

अर्थ—१ सामायिक २ प्रोपधोपवास ३ भोगपरिभोग परिमाण ४ अतिथि संविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं।

सामायिक शिक्षाव्रत

आसमयमुक्ति मुक्तं, पंचाधानामशेषभावेन ।
सर्वत्र च सामयिका, सामयिकं नाम शंसन्ति ॥ ९७ ॥
मूर्द्ध रुहमुष्टिवासो, बंधं पर्यंकबंधनं चापि ।
स्थानमुपवेशनं वा, समयं जानन्ति समयज्ञाः ॥ ९८ ॥ [रत्नकरंड श्रा०]

अर्थ—सर्व आरंभ और पांचों पापों से रहित होकर मुनि की तरह अपनी आत्मा का अन्तर्मुहूर्त पर्यंत चिन्तवन करना, धर्म ध्यान में लीन होना समय है, उसे एकान्त में-केशबन्धन, मुष्टि बन्धन वस्त्रग्रन्थि बन्धन आदि के छूटने पर्यंत, सर्व प्रकार की भाव हिंसा तथा प्राणों के वियोग रूपी द्रव्य हिंसा आदि पांचों पापों का मन वचन काय से त्याग पूर्वक चिन्तवन करना सो सामायिक शिक्षा व्रत है। इसके उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन भेद हैं। जिनका सामायिक प्रतिमा में खुलासा करेंगे।

सामायिक योग्य स्थान

एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे, वनेषु वास्तुषु च ।
चैत्यालयेषु वापि च, परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ॥ ९९ ॥ [रत्नकरंड श्रा०]

अर्थ—उपद्रव रहित एकान्त स्थान में जैसे-वन में या मसान में, सूने घर में, धर्मशाला या चैत्यालय में, गिरि की गुफा या कंदरा में, अपने घर में एकान्त में प्रसन्न मन से सामायिक करना, अर्थात् जहां पर विशेष वायु न हो डांस मच्छर, सर्प चूहे आदि के बिल या बिच्छुओं के आवास न हों, विशेष गर्मी सर्दी न हो, तिर्यंच स्त्री नपुंसकों का आवागमन न हो, स्त्रियों के गीत, वादित्र, विवाहादि कार्यों का स्थान न हो मरण हुए का या जन्मोत्सव का स्थान न हो, मदिरा पीने वाले, या वेश्या डोमती आदि का स्थान न हो, क्योंकि ऐसे कारणों के मिलने से परिणाम बिगड़ जाने की संभावना रहती है।

इस प्रतिमा का सामायिक, तीसरी सामायिक प्रतिमा के लिये अभ्यास रूप है। इस शिक्षाव्रत मे दिन में एकबार सामायिक करना

होता है, तथा तीसरी प्रतिमा में दिन में तीनवार सामायिक करना जरूरी है। सामायिक के बत्तीस दोष तथा पांच अतिचार टालने से तीसरी सामायिक प्रतिमा निर्दोष होती है। यह सामायिक पंच महाव्रतों को परिपूर्ण करने का कारण है, इसलिये प्रतिदिन आलसरहित होकर एकाग्रचित्त से इस सामायिक का अभ्यास बढ़ाना चाहिये। सामायिक में आरंभ सहित सभी प्रकार के परिग्रह नहीं होते, इस कारण उस समय गृहस्थ भी, उपसर्ग से ओढे हुए कपड़े सहित मुनि की तरह उत्तम भाव को प्राप्त होता है।

सामायिक को प्राप्त होने वाले मौनधारी गृहस्थ को अचल योग सहित, शीत उष्ण डांस मच्छर आदि परिषह तथा उपसर्ग को सहन करना चाहिये, और ऐसी भावना रखना चाहिए कि-मैं अशरण हूं, इस दुःखमय संसार में कर्मों के वशवर्ती होकर दुःख उठारहा हूं, मेरा स्वरूप तो श्री सिद्ध परमेष्ठी के समान है। सिद्ध भगवान् में तथा मेरे स्वरूप में शक्ति और व्यक्ति का ही अन्तर है, बाकी कुछ भी भेद नहीं है। मैं निराकुल नित्य हूं, जिसका अनन्त काल तक कदापि भी विनाश नहीं हो सकता। परन्तु मैंने अशुभ परिणामों से जो पूर्व में कर्मोपार्जन किये हैं उनसे चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण किया। इसलिये अब सर्व प्रकार के भयों को छोड़कर आत्म-स्वरूप में मग्न होकर नियत समय तक अडोल सामायिक से चलायमान नहीं होना चाहिये। इस सामायिक की ग्रन्थों में ऐसी महिमा गाई है कि-यह सामायिक ही आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति योग्य चारित्र है। इस चारित्र से चतुर्गति रूप भ्रमण नष्ट होता है।

प्रश्न—यह सामायिक तो अत्यंत दुसाध्य है, इसका पालन कैसे हो ?

उत्तर—यह दुसाध्य होते हुए भी अभ्यास से सरल हो जाता है, जैसे-जल भरने वाली स्त्रियों की रस्सी से कुए के बड़े २ पत्थरों के मस्तक पर भी खड्डे पड़जाते हैं, बार २ के अभ्यास से महा दुःसाध्य कार्य भी सहज हो जाते हैं। अभ्यास ऐसी ही वस्तु है।

सामायिक शिक्षाव्रत के पांच अतिचार और उनका स्वरूप

पंचात्रापि मलानुज्झेदनुपस्थापनं स्मृतेः।
कायवाङ्मनसां दुष्टप्रणिधानान्यनादरम् ॥ ३३ । ५ । [सा. ध.]

अर्थ—इस व्रत के भी पांच अतिचार हैं, जिनको त्यागना चाहिये। जैसे १ स्मृत्यनुपस्थापन २ कायदुष्प्रणिधान ३ वाक्य दुःप्रणिधान ४ मनोदुष्प्रणिधान ५ अनादर। अब इनका खुलासा करते हैं—

१ स्मृत्यनुपस्थापन—स्मरण नहीं रखना, चित्त की एकाग्रता न होना, मैं सामायिक करूँ या न करूँ अथवा मैंने सामायिक किया है

अथवा नहीं, इत्यादि विकल्प करना, स्मृत्यनुपस्थापन नामा अतिचार है। जब प्रबल प्रमाद होता है तब यह अतिचार लगता है। मोक्षमार्ग में जितने अनुष्ठान हैं, उनमें स्मरण रखना मुख्य है। बिना स्मरण के कोई क्रिया भली भांति नहीं हो सकती। इसलिये इस अतिचार से बचना चाहिये।

२ कायदुःप्रणिधान—कायकी पाप रूप प्रवृत्ति करने को कायदुःप्रणिधान कहते हैं—जैसे हाथ पैर आदि शरीर के अवयवों को निश्चल नहीं रखना, अथवा पाप रूप संसारी क्रिया में लगना, यह दूसरा अतिचार है।

३ वाग्दुःप्रणिधान—वर्णों का उच्चारण स्पष्ट रूप से नहीं रखना, शब्दों का अर्थ नहीं जानना, पाठ पढने में शीघ्रता (चपलता) करना, यह वाग्दुःप्रणिधान नामा तीसरा अतिचार है।

४ मनोदुःप्रणिधान–क्रोध, लोभ, द्रोह ईर्ष्या अभिमान आदि उत्पन्न होना, किसी कार्य के करने की शीघ्रता करना अथवा क्रोधादि आवेश में आकर बहुत देरतक सामायिक करना, परन्तु सामायिक में चित्त न लगाकर इधर उधर घुमाना यह चौथा अतिचार है। इसमें चित्त डावांडोल रहता है और स्मृत्युपस्थापन में भूलना होता है, यही इन दोनों में भेद है।

५ अनादर—सामायिक करने में उत्साह नहीं करना, नियत समय पर सामायिक नहीं करना, अथवा जिस तिस प्रकार समय पूरा करदेना, सामायिक पूर्ण करते ही सांसारिक कार्यों में तत्काल दत्तचित्त होजाना, यह पांचवा अतिचार है।

प्रोपधोपवास शिक्षाव्रत का स्वरूप

स प्रोपधोपवासो यच्चतुष्पर्व्यां यथागमम्।
साम्यसंस्कारदार्ढ्याय, चतुर्भुक्त्युज्झनं सदा ॥ ३४–५ ॥ [सा. ध.]

उपवासाक्षमैः कार्योऽनुपवासस्तदक्षमैः।
आचाम्लनिर्विकृत्यादि, शक्त्या हि श्रेयसे तपः ॥ ३५–५ ॥ [सा. ध.]

अर्थ—सामायिक के संस्कारों को दृढ़ बनाने के लिये अर्थात् परिषह उपसर्ग आदि के होते हुए भी समताभाव न बिगड़ने पावे, अच्छी तरह उनपर विजय प्राप्त होजावे, इसलिये जो श्रावक जन्म पर्यंत प्रत्येक महिने के चारों पर्वदिवसों में शास्त्रानुसार चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है, उसके त्याग को प्रोपधोपवास कहते हैं।

भावार्थ—प्रत्येक महिने में कृष्ण पक्ष की अष्टमी तथा चतुर्दशी, शुक्ल पक्ष की अष्टमी तथा चतुर्दशी, इस तरह चार पर्व दिन होते हैं। प्रत्येक पर्व में चारों प्रकार के (खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय) आहार का शास्त्रानुसार त्याग करना चाहिए। अर्थात् जैसे किसी को अष्टमी का प्रोषधोपवास करना है, तो उसे सप्तमी के दिन एकाशन पूर्वक व्रत स्वीकार करना चाहिये। अष्टमी को बिलकुल निराहार रहे, नवमी को एकाशन पूर्वक पारणा करे। इस प्रकार प्रत्येक पर्व में चार चार वार के भोजन के त्याग को प्रोपधोपवास कहते हैं। यह उत्तम विधि है। जो श्रावक इसके पालने में असमर्थ हैं उन्हें जल के सिवा अन्य सब आहार छोड़ देना चाहिये, इसे अनुपवास या मध्यम प्रोपधोपवास कहते हैं। और जो अनुपवास करने में भी असमर्थ हैं, उनको आचाम्ल या निर्विकृति भोजन करना चाहिये। बिना पकी हुई कांजी (खटाई) मिलाकर भात खाना, यह आचाम्ल है। विकृति रहित भोजन को निर्विकृति कहते हैं, जैसे गर्म जल के साथ भात जीमना। जो जिह्वा और मन में विकार पैदा करे उसे विकृति कहते हैं, यह भोजन चार प्रकार का होता है। १ गोरस २ इक्षुरस ३ फलरस ४ धान्यरस ।

१ गोरस—दूध, दही, घी, आदि पदार्थ २ इक्षुरस—खांड, गुड, आदि पदार्थ ३ फलरस दाख, आम ककड़ी खरबूजा संतरा सेव अंगूर अनार आदि रसीले फल का भोजन फल रस कहलाता है। ४ धान्यरस—तेल मांड आदि, गेंहू का सत आदि ये सब धान्य रस होते हैं। जो पदार्थ जिसके साथ खाने में स्वादिष्ट लगता हो उसको विकृति कहते हैं "अनुपवास वाले को निर्विकृति रूप भोजन करना चाहिये। आदि शब्द से एक स्थान में बैठकर एकवार भोजन करना चाहिये, अथवा किसी प्रकार के रस का त्याग करना चाहिये, अथवा शक्ति के अनुकूल और कुछ छोड़ देना चाहिये। शक्ति के अनुसार किया हुवा तपश्चरण कल्याणकारी अर्थात् पुण्य का कारण और मोक्ष का देने वाला हुवा करता है।

प्रोपधोपवास के दिन त्यागने योग्य कार्य

पंचानां पापानामलंक्रियारंभगंधपुष्पानाम् ।
स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे, परिहृतिं कुर्यात् ॥ १०७ ॥ [रत्नकरण्ड श्रा.]

अर्थ—उपवास के दिन हिंसादि पांचों पापों का, तथा शृंगार, आरंभ गंध पुष्प और उपलक्षण से रागोत्पादक गीत, नृत्यादिक, स्नान, अंजन, तम्बाकू आदि सूघने के पदार्थों का तथा नाटक सरकश वगैरह देखने का, आदि शब्द से ऐसे और कार्यों का भी त्याग कर देना चाहिये जिन से रागवृद्धि की संभावना हो।

भावार्थ—भगवन् समन्त भद्रस्वामी ने इस श्लोक में गंध पुष्पानां तथा स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे इस प्रकार पद दिया है इसका आशय ऐसा समझ में आता है कि जब उपवास होवे तब नाकसे पुष्प सूंघना नहीं तथा आंख में अंजन भी नहीं लगाना। कारण कि नाकसे पुष्प

सूंघने से और आखों में अंजन लगाने से उपवास भ्रष्ट हो जाता है। अत. आचार्य स्वामी ने ऐसा लिखा है। फिर उपवास में कुरला करना कहां तक संगत हो सका है? उपवास में कुरला करना उपवास को नाश करता है। विद्वजन इस बात पर पूर्ण विचार करें।

यदि पुष्प सूंघने और अंजन लगाने से ऐसा नहीं होता तो कदापि आचार्य रोकते नहीं। इस वास्ते यह सिद्ध होता है कि जब नासिका से पुष्प सूंघना और आंखों में अंजन लगाना भी रोका जाता है तब दंतोन करना, कुरली करना उपवास में कैसे संगत हो सकता है। कई ग्रन्थों में इनका निषेध है। इन्द्रनन्दी भट्टारक कहते हैं:—

"पव्वदिणेसु वएसुवि, ण दन्त कट्ठं ण आचमं तप्पं।
एदाणं जणणरसाणं परिहरणं वत्थ सवणोउ ॥ १ ॥
द्वितीया पंचमी चैव ह्यष्टम्येकादशी तथा।
चतुर्दशीतथैताश्च दन्तधावं च नाचरेत् ॥ २ ॥"

इस प्रकार शास्त्रों में उपवास के दिन कुरली करने का निषेध मिलता है। जैनियों की रूढ़ि से भी यही प्रकट होता है कि उपवास के दिन हरगिज भी दातोन कुरली नहीं करना चाहिए।

उपवास के दिन करने योग्य कार्य—

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा तथा और भी अनेक ग्रन्थों में उत्तम उपवास सोलह प्रहर का, मध्यम चौदह-प्रहर तथा जघन्य बारह प्रहर का कहा है, इस मर्यादा से कम का नहीं होता। हां बीमारी की अवस्था में आठ प्रहर का भी माना है, तथा एकाशन करके भी प्रोष माना है, प्रोषधोवासी के और भी नीचे लिखे माफिक कार्य करना चाहिये।

पर्वपूर्वदिनस्यार्द्धे भुक्त्वाऽतिथ्यशितोत्तरम्।
लात्वोपवासं यतिवद्विविक्तवसतिं श्रितः ॥ ३६–५ ॥ [सा. ध.]
धर्मध्यानपरो नीत्वा, दिनं कृत्वा पराह्णिकम्।
नयेत्त्रियामां स्वाध्यायरतः प्रासुकसंस्तरे ॥ ३७–५ ॥ [सा. ध.]

ततः प्राभातिकं कुर्याद्वद्यामान् दशोत्तरान् ।
नीत्वाऽतिथिं भोजयित्वा, भुञ्जीतालौल्यतः सकृत् ॥ ३० ॥

पूजयोपवसन् पूज्यान् भावमय्यैव पूजयेत् ।
प्रासुकद्रव्यमय्या वा, रागाङ्गं दूरमुत्सृजेत् ॥ ३९—५ ॥ [सा. ध.]

अर्थ—प्रोपधोपवास करने वाले श्रावक को, पर्व के पहिले दिन अर्थात् सप्तमी वा त्रयोदशी के दिन, मध्याह्न काल अथवा उससे कुछ पहिले, मुनि, आर्यिका ऐलक क्षुल्लक आदि को, भोजन देने के अनन्तर, विधि के अनुसार स्वयं भोजन करना चाहिये। पश्चात् उपवास स्वीकार करना चाहिये, जैसा कि मुनिगण करते हैं। निंद्य व्यापार आदि सबका त्याग कर देना चाहिये। फिर योग्य स्थान में जहां कोलाहल न हो, वहां धर्म ध्यान में (१ आज्ञा विचय २ अपाय विचय ३ विपाक विचय ४ संस्थान विचय, इन में) लीन रहे। ध्यान से छूटे तो स्वाध्याय करे, अथवा अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करे, इस प्रकार वह दिन और रात्रि (छः प्रहर) व्यतीत करे। बीच के संध्या वन्दना, आदि धर्म ध्यान को न भूले॥ ३७॥ पुनः अष्टमी व चतुर्दशी की प्रभात की क्रिया संध्या वन्दना, देव पूजन आदि करना चाहिये। इस तरह दिन, रात्रि तथा नवमी व पूर्णिमा के प्रातः काल तक पौर्वाह्णिक माध्याह्निक एवं अपराह्णिक, सम्पूर्ण क्रियाएं करनी चाहिये॥ ३८॥ उपवास करते समय, पंचपरमेष्ठी शास्त्र, व गुरु की पूजा द्रव्यों से प्रीति पूर्वक पूजा व गुणस्मरण करना चाहिये। कदाचित् भाव पूजा न कर सके तो प्रासुक (अचित्त) अक्षत आदि द्रव्य से पूजा करनी चाहिये। भगवान् की जलादि सचित्त द्रव्यों से भी पूजा की जाती है, परन्तु उपवास में अचित्त द्रव्य से ही पूजा करना सचित्त से नहीं, ऐसा कई आचार्यों का मन्तव्य है। फिर प्रथम दिवस की तरह पहिले अतिथियों को प्रासुक दान देकर आप भोजन करे, सो भी एकबार दुबारा नहीं, इस प्रकार तीन दिन में चार भोजन वेला का त्याग सोही, उत्तम प्रोपधोपवास होता है, मध्यम जघन्य का स्वरूप ऊपर बता चुके हैं।

आजकल अनेक व्रती पुरुष ऐसा कहने लगे हैं, कि जिनेन्द्र की पूजा करनी होवे तो, उपवास के दिन भी स्नान, दातुन कुरला करो। विना दन्त धावन किये, पूजा नहीं कर सकते। सो भोले श्रावक उनके कथन से पापयोग के डर से उपवास में भी दातुन कुरला करने लगगये हैं, सो यह विपरीत मार्ग है। उपवास के दिन कदापि दन्तधावन, कुरला मत करो। हां स्नान करके भगवान् जिनेन्द्र की पूजा कर सकते हैं। यह बात भी अवश्य है कि, जिस गृहस्थ के, उपवास या एकाशन किसी प्रकार का प्रत्याख्यान न हो, वह दन्त धावन, कुरला, स्नानादि करके देव पूजादि करे अन्यथा एक विन्दु भी मुंह मे जल लेलोगे, तो न एकाशन रहेगा न उपवास। क्योंकि उपवास में तो १६ या १४ या १२ प्रहर तक को चारों प्रकार के आहार का त्याग कर चुके हो, तथा एकाशन में एकबार जो कुछ लेना है, सो लेना चाहिये। अन्यथा भूखे भी रहे और

पाप बन्ध भी हुआ। क्योंकि प्रतिज्ञा थी—उपवास या एकाशन की। और कुरला कर लिया तो आंखड़ी भ्रष्ट हुए। सो महान् पाप है। आगम की तो ऐसी आज्ञा है कि जितनी शक्ति होवे, उतना नियम लो। जैसा कि कविने कहा है—'कीजे शक्ति प्रमाण, शक्ति विना सरधा धरे'। जिसके पालन की शक्ति न हो उस की श्रद्धा करनी। और जो यशास्तिलक चम्पू ग्रन्थ में ऐसा लिखा है कि शरीर शुद्ध स्नान, दन्तधावन कुरला आदि करके भगवान् की पूजा करो अन्यथा नहीं सो कथन सामान्य गृहस्थों (विना उपवास, एकाशन वालों) के लिये है, व्रतियों के लिये नहीं।

प्रोपधोपवास के पांच अतिचार

ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरा स्मरणे ।
यत्प्रोपधोपवास, व्यतिलंघनपंचकं तदिदम् ॥ ११० ॥ [रत्नकरंड श्रा.]

अर्थ—प्रोपधोपवास करने वाले को इन पांच अतिचारों से बचना चाहिये। १ विना देखे विना सोधे कोई वस्तु ग्रहण करना व रखना, २ विना देखे सोधे सांथरा, बिछौने, बिछाना, ३ विनादेखे सोधे मल मूत्र क्षेपण करना ४ व्रत में अनादर करना, या श्रद्धा न रखना ५ चित्त चंचल रखकर हल चल नहीं करना। ये प्रोपधोपवास के पांच अतिचार हैं—

प्रत्येक का वर्णन इस प्रकार है—

१ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग—इस भूमि में जीव हैं कि नहीं हैं, इस प्रकार नेत्रों से देखना प्रत्यवेक्षण है। कोमल उपकरण से, भूमिका शोधना बुहारना प्रमार्जन है। नेत्रों से देखे विना व कोमल पिच्छिका से शोधन किये विना भूमि पर मलमूत्रादिक डाल देना अतिचार है।

२ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान—विना देखे सोधे जिनदेव, शास्त्र, आचार्य आदि की पूजन के द्रव्य, गन्ध माल्य, धूप, दीपादिक आदि उपकरणों को ग्रहण करना अथवा वस्त्र, पात्र आदि को देखे सोधे विना, घसीट कर उठालेना का यह दूसरा अतिचार है।

३ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण—विना देखे सोधे, भूमिपर शयन, आसन के लिये सांथरा या वस्त्रों को बिछाना, उठाना ये तीसरा अतिचार है।

४ अनादर—क्षुधा, तृषा की बाधा से, आवश्यकीय धर्म क्रियाओं में, अनादर रूप प्रवर्तन करना चौथा अतिचार है।

५ स्मृत्यनुपस्थापन—प्रोषधोपवास के दिन करने योग्य आवश्यकीय क्रियाओं को भूलजाना यह पांचवा अतिचार है।

भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत का स्वरूप

भोगोऽयमियान् सेव्यः, समयमियन्तं सदोपभोगोऽपि।
इति परिमायानिच्छंस्तावधिकौ तत्प्रमाव्रतं श्रयतु ॥ १३—५ ॥ [सा. ध.]

अर्थ—शिक्षाव्रती श्रावक को १ विधि मुख २ निषेध मुख से भोगोपभोग शिक्षाव्रत को ग्रहण करना चाहिये। मैं इस पदार्थको इतने दिनतक सेवन नहीं करूंगा, यह तो निषेधमुख है। तथा इस पदार्थ को इतने दिन तक ही सेवन करूंगा, यह विधिमुख है। वस्त्राभूषण आदि पदार्थों को इतने दिन तक सेवन नहीं करूंगा, अथवा इतने दिन तक इस प्रकार सेवन करूंगा, इस प्रकार परिमाण करके उससे अधिक भोगोप भोगों की कभी भी इच्छा नहीं रखते हुवे इस व्रत का पालन करना चाहिये।

भोग और उपभोग, यम तथा नियम का लक्षण

भोगः सेव्यः सकृदुपभोगस्तु पुनः पुनः स्रगम्बरवत्।
तत्परिहारः परिमितकालो, नियमोयमश्च कालान्तः ॥ १४—५ ॥ [सा. ध.]

अर्थ—जो पदार्थ एक वार ही सेवन करने में आवे ऐसे गन्ध, माला, ताम्बूल, भोजन आदि भोग्य पदार्थ हैं। जो वस्तु वार २ सेवन की जासके-ऐसे वस्त्र आभूषण सेज चौकी पाटा आदि उपभोग कहलाते हैं। उन पदार्थों का एक दो दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, चतुर्मास, वर्ष दो वर्ष आदि नियमित काल के लिये त्याग करना वह नियम कहलाता है जो त्याग मरण पर्यंत किया जाता है उस त्याग को यम कहते हैं। यम और नियम दोनों ही प्रकार की त्याग विधि जिनमतानुकूल होती है, जैसी शक्ति और द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव, की योग्यता हो, वैसा ही करना चाहिये।

भोगोपभोग के अन्तर्गत त्यागने योग्य पदार्थ

"अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि।
नवनीतनिम्बकुसुमं, कैतकमित्येवमवहेयम् ॥"

अर्थ—जिसमें फल थोड़ा, हिंसा अधिक ह, ऐसे मूली, गीला अदरक, नवनीत (मक्खन), नीम के फूल, केतकी आदि का त्याग करना चाहिये। इसी का विशेष खुलासा करते हैं—

पलमधुमद्यवदखिलस्त्रसबहुघातप्रमादविषयोऽर्थः ।
त्याज्योऽन्यथाप्यनिष्टोऽनुपसेव्यश्च व्रताद्धि फलमिष्टम् ॥ १५ ॥
नालीसूरणकालिन्दद्रोणपुष्पादि वर्जयेत् ।
आजन्मतद्भुजां ह्यल्पं, फलं घातश्च भूयसाम् ॥ १६ ॥
अनन्तकायाः सर्वेऽपि, सदाहेया दयापरैः ।
यदेकमपि तं हंतुं प्रवृत्तोहन्त्यनन्तकान् ॥ १७—२ ॥ [सा. ध.]

अथ—पल (मांस) मधु-मद्य ये पदार्थ तो सर्वथा हेय हैं ही, छूने के योग्य भी नहीं हैं, क्योंकि इसमें अनेक त्रस स्थावर तथा सम्मूर्च्छन जीव निरन्तर रहते हैं जिनका स्पर्श मात्र से घात होजाता है। विज्ञान (साइन्स) भी इनको हेय कहता है। इन पदार्थों से गृद्धि तथा काम लालसा की वृद्धि होती है, इसलिये इनका तो श्रावक के सर्वथा जन्म पर्यंत त्याग होता ही है। इसी तरह जिनपदार्थों में त्रसों का घात, अथवा बहुत स्थावरों का घात होता हो, प्रमाद बढ़ाने वाले हों, अनिष्ट हों, अनुपसेव्य हों, उन सबका भी भोगोपभोगपरिमाणव्रती को त्याग करना चाहिये, जिससे इष्ट फल की प्राप्ति होती है।

जो साग व फल भीतर से पोले हों, जिनमें ऊपर से उड़कर आने वाले तथा उनमें उत्पन्न होने वाले सम्मूर्च्छन जीव अच्छी तरह रह सकते हों. ऐसे कमल की नाली आदि, तथा केतकी, नीम के फूल, अर्जुन धरणी महुआ, बेल, गिलोय, मूली, गाजर, कांदा, लहसुन, अदरख, गीली हलदी आदि पदार्थों में बहुत जीवों का घात होता है, फल अल्प होता है, इसलिये इनका त्याग करना चाहिये।

बाजरे के सिट्टे जुआरी के भुट्टे पालक का साग लालरंग का मतीरा (तरबूज) सकरकंद, लुनीया की भाजी सर्व प्रकार के पुष्प विना मर्यादिक कोई भी पदार्थ जैनाचार्यों द्वारा बताई मर्यादा को नहीं जानने वाले का हाथ का पदार्थ जैसे हलवाई की मिठाई भी (जैन होतो भी) नहीं भक्षण योग्य है, वर्षा ऋतु में पत्र साग सर्वथा अभक्ष होजाता है, अतः भक्षण योग्य नहीं। सूखे कंद मूल भी भक्षण योग्य नहीं हलदी गीलीअदरक भक्षण योग्य नहीं। सूखी सोंठ और हलदी मूंगफली को सिद्धान्तों में काष्टादिक मानी है। फनश कटहल खिरणी गोंदी

थूअर के पत्र, श्रावकों के सर्वथा भक्षण योग्य नहीं। शर्बत, आचार, आसव, मुरब्बा, कांदा, गाजर, पोदीना, लेहसुन, हींग, हिंगडा, सज्जी पापड़ खार होटल में जीमना, सोडावाटर पीना बिसकुट बर्फ इत्यादिक पदार्थ का नाम बताया है सो यह नहीं समझना कि इतने ही का त्याग बताया है; इन जैसे जो भी हों-उनका सबकाही त्याग होना चाहिये।

शूद्रों का स्पर्श हुआ भोजन त्यागने योग्य है। शूद्रों के गृह का दुग्ध दही छाछ (मट्ठा) पानी भी पीने योग्य नहीं है। बिना मर्यादिक पदार्थ कुलीन पुरुषों का भी सेवन योग्य नहीं समझना। कारण कि निमित्त, परिणाम बिगाड़ देता है। इससे भोगोपभोग व्रत में विवेक पूर्वक कर्तव्य करना चाहिए।

जो पदार्थ नशा पैदा करने वाले हों जैसे-भांग अफीम, गांजा, धतूरा, ऐसी वस्तुओं को खाने तथा इन का व्यापार करने का भी त्याग कर देना चाहिये क्योंकि इनसे सद्विचार नष्ट होते हैं।

जिन पदार्थों में त्रस स्थावर का घात भी नहीं होता, किन्तु अपनी प्रकृति के अनुकूल न हों, ऐसे अनिष्ट पदार्थों का त्याग करना चाहिये, जैसे-खासी के रोगी को मलाई। अथवा-जो इष्ट होते हुए भी अनुपसेव्य हों उन का भी त्याग करना चाहिये। जैसे—भड़कीले वस्त्र पहिनना आदि। क्योंकि इनका असर मानसिक कर्तव्यों पर पड़ता है, शिष्ट पुरुष में भी अशिष्ट सरीखे आचरण शनैः २ आजाते हैं, जिनसे धर्म का घात संभव है। इसलिये त्यागरूप भावना रखनी चाहिये, जिससे अभीष्ट और इष्ट फल की प्राप्ति होवे।

वनस्पति काय के भेद।

वनस्पति काय के दो भेद हैं १ साधारण २ प्रत्येक।

१ साधारण वनस्पति तो गृहस्थों को ग्राह्य है ही नहीं। जिस वनस्पति के एक शरीर में अनंत जीव रहते हैं वे एक साथ ही जन्म लेते हैं, साथ ही स्वासोच्छ्वास व आहार ग्रहण करते हैं, और साथ ही मरते हैं, उन अनन्त जीवों का एक ही शरीर आश्रय होता है, यह साधारण जीवों का साधारण लक्षण है; ऐसी वनस्पति का तो सर्वथा त्याग करना चाहिये।

२—प्रत्येक के दो भेद हैं; १ सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक।

"मूलग्गा पोरबीजा, कंदा तह खंधबीज बीजरुहा।
सम्मुच्छिमाय भणिया, पत्तेयाणंतकाया य॥"

अर्थ—मूल, अग्र, पर्व, कंद, स्कंध, बीज और सम्मूर्च्छन, इनसे पैदा होने वाली वनस्पति प्रत्येक, तथा अनन्त काय होती है, अर्थात् उत्पत्ति के समय से अन्तर्मुहूर्त तक तो प्रत्येक रहते हैं, पश्चात् साधारण हो जाते हैं। इन मूल आदि सात प्रकार से पैदा होने वाली वनस्पति का भिन्न २ वर्णन इस प्रकार है—

१—मूलज · अदरक, हल्दी, मूली, गाजर, आलू, रताल्, अरबी, सकरकंद, कांदे (प्याज) लहसुन, ये सब मूल से, जमीन के अन्दर पैदा होने वाली वनस्पति हैं।

२ अग्रज—तोरई, भिन्डी, ककडी, आर्या, आदि वस्तु जो सिरे से पैदा होती हैं, अग्रज कहलाती हैं।

३ पर्व—देवनाल, ईख, वेत आदि गांठ से पैदा होने वाली को पर्वज कहते हैं।

४ कंद—सूरण प्याज आदि कंद हैं।

५ स्कंधज—सायली, कटेरी, पलाश आदि शाखा से उत्पन्न होनेवाली वस्तु स्कंधज कहलाती हैं।

६ बीज—गेंहू, चावल, जुवार, बाजरा, मक्की, मूंग, उडद, मसूर आदि बीज से उत्पन्न होते हैं।

७ सम्मूर्च्छन—जो बिना बीज आदि बोये अपने योग्य द्रव्य क्षेत्र मिलने से पैदा होजाते हैं, वे सम्मूर्च्छन वनस्पति हैं—जैसे घास आदि। जब इनके आश्रित निगोदिया जीव रहते हैं, तब ये सभी सप्रतिष्ठित कहलाते हैं और जब द्रव्य क्षेत्र काल की योग्यता से निगोदिया जीव इनमें नहीं रहते तब अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहलाते हैं। जिस वनस्पति के एक शरीर का एक ही स्वामी हो उसे अप्रतिष्ठित कहते हैं। अब गोम्मटसार जीवकाण्ड के अनुसार, सप्रतिष्ठित प्रत्येक एवं अप्रतिष्ठित प्रत्येक की पहिचान के नियम बताते हैं।

सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक का लक्षण

गूढसिरसंधिपव्वं, समभंगमहीरुहंच छिण्णरुहं।
साहारणं शरीरं, तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥ १८६ ॥ [गो. जी.]

अर्थ—जिस वनस्पति की शिरा, संधि, पर्व अप्रकट हों, जिसके तोड़ने पर समान भंग होता हो, दोनों टुकडों में तन्तु न लगारहे,

छेदन करने पर भी जिस की पुनः वृद्धि होजावे, उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। इसी का दूसरा नाम अनंतकाय भी है। इससे विपरीत लक्षण होने पर वही वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहलाती है।

मूले कंदे छल्लीपवालसालदलकुसुमफलबीजे।
समभंगे सदि णंता, असमे सदि होन्ति पत्तेयाः॥ १८७॥ [गो. जी.]

अर्थ—जिन वनस्पतियों के मूल, कन्द, छाल, कोंपल, टहनी, पत्ते, फूल, तथा बीजों को तोड़ने से समान भाग हो, उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं, जिनका समान भंग नहो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

कंदस्स व मूलस्स व सालाखंदस्स वावि बहुलतरी।
छल्ली साणंतजिया, पत्तेयजिया तु तणुकदरी॥ १८८॥ [गो. जी.]

अर्थ—जिस वनस्पति के कन्द, मूल, क्षुद्र शाखा या स्कंध की छाल मोटी हो उसको अनंत जीव (सप्रतिष्ठित प्रत्येक, कहते हैं, और जिसकी छाल पतली हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

ऊपर की गाथाओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हरित वनस्पति किस हालत में अनन्त काय अर्थात् सर्वथा अभक्ष्य रहती है, और किस हालत में श्रावक को विचार कर गृहण करने योग्य हो जाती है। हरित वनस्पति का यथा शक्ति त्याग सवर्था उचित है। जो साधारण तथा व्रती श्रावक अपनी जिह्वाइन्द्रिय को दमन करने के लिये, या भोगोपभोग परिमाण व्रत के अन्तर्गत, ऐसी प्रतिज्ञा पालते हैं कि, हम अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टाह्निका तथा दश लक्षण में हरी वनस्पति नहीं खायेंगे, इस परम्परागत सदाचार को आजकल कई धर्मात्मा कहलाने वाले व्यक्ति, व्यर्थ या अनुचित कहकर शिथिल बनाने का प्रयत्न करने लगे हैं, तथा अनेक सार हीन कुतर्कों से भोले श्रावकों की प्रतिज्ञा हानि करा देते हैं। ऐसे कई व्यक्ति जिन्होंने पहिले पर्व दिवसों में आजन्म हरी न खाने की प्रतिज्ञा ले रक्खी थी, अब पर्व दिवसों में हरी-सब तरह की पकाकर व कच्ची भी खाने लगगये हैं, तथा कहने लगे हैं कि हम पहिले इस हरित काय में जीव समझते थे, तथा आजकल के त्यागी लोग उनमें जीव नहीं बताते·हमें भी ऐसा श्रद्धान होगया है; इसलिये अब हरित छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं रही। इत्यादि।" सो बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि क्या जैनियों के सिद्धान्त इतने कच्चे या ढीले ढाले हैं कि कल तक तो सम्पूर्ण जैन समाज अष्टमी चौदस को हरी त्याग में पुण्य समझता था, आज यह मामूली सी बात. या फालतू त्याग नियम समझा जाता है, सो भी साधुओं के द्वारा ? भला अजैन समाज जैनों के इस कृत्य को किस

दृष्टि से देखती है, इसको भी उन प्रतिज्ञा भंग करानेवालों ने कभी विचारा है ? जो जैन समाज इस प्रकार के विचार से ओत प्रोत थी कि—

पादेनापि स्पृशन्नर्थवशाद्योऽतिऋृतीयते, ।
हरितान्याश्रितानन्तनिगोतानि स मोक्ष्यते ॥ ६–७ ॥ [सागारधर्मामृत]

अर्थात्—जो श्रावक प्रयोजन के वश से अपने पैर से भी जिस हरी वस्तु को छूने में भी अतिचार को प्राप्त होता है. वह अनेक (अनंत) जीवों से भरी हरी वनस्पति को कैसे खावेगा ? अर्थात् कदापि नहीं खावेगा। कहां तो महामना आशाधरजी की हरी त्याग समर्थन की ऐसी साक्षी, और कहां आजकल के मुनिमान्य लोगों का प्रतिज्ञा भंग कराने का प्रयास। जो हरित भक्षी यह पूछते हैं कि शास्त्रों में हरित में जीव कहां बतलाया है, उनको मालुम होना चाहिये. कि सिर्फ यापनीय संघ के आचार्यों ने हरित में जीव नहीं माने हैं। सो वह संघ ही जैनाभासों की गिनती में है, ऐसा भट्टारक इन्द्रनन्दि कृत नीति सार में दर्शन सार में स्पष्ट बतलाया है। बाकी सब जैनाचार्यों ने हरित काय में जीव माने हैं। इस बात का खुलासा इसी ग्रंथ के भोजन की मर्यादा प्रकरण में अच्छी तरह कर दिया है, सो वहां से अवलोकन करना चाहिये।

इस भोगोपभोगपरिमाण व्रती को प्रातः काल ही दिन भर में काम आने वाली वस्तुओं का परिसंख्यान कर लेना चाहिये, जैसा कि श्री सकल कीर्ति ने कहा है।

भोजने षट्रसे पाने, कुंकुमादिविलेपने ।
पुष्पतांबूलगीतेषु, नृत्यादौ ब्रह्मचर्यके ॥
स्नानभूषणवस्त्रादौ, वाहने शयनासने ।
सचित्तवस्तुसंख्यादौ, प्रमाणं भज प्रत्यहं ॥ १२४–१७ ॥ [प्रश्नोत्तर श्रा.]

अर्थ—भोगोपभोग व्रत की प्रवृत्ति सतरह प्रकार से मानी है। इसको निरदूषण पालना चाहिये, इसी को सतरह प्रकार के नियम भी कहते हैं, जिनका खुलासा इस प्रकार हैं।

(१) आज मैं इतने वार (एक या दो ही बार जीमूंगा (२) आज मैं इतने रस ही ग्रहण करूंगा, अधिक नहीं। घी, दूध, दही, लवण, तैल, मीठा, ये भोजन के छह रस हैं। उनमें इतने लूंगा और बाकी का त्याग है (प्राप्त मेंसे छोड़ना योग्य है)। (३) पीने योग्य पदार्थ दूध,

शरबत, नारंगी का रस आदिका नियम करना। ४) चंदन कुंकुम आदि का तिलक, लेप, उवटना में हल्दी इत्यादि का इतनी वार से अधिक का मेरे त्याग है। (५) इतनी प्रकार के नाम खोल कर पुष्प, या इतर के सूंघने सिवा अन्य का आज त्याग है। (६) पान सुपारी, इलायची, बादाम, पिस्ता मसाला ताम्बूल आदि इतने बार खाऊंगा, अधिक नहीं। (७) आज, इतने गीत, नाटक, तमाशा आदि देखूंगा, सिवाय नहीं। (८) आज इतने प्रकार के बाजे सुनूंगा, या बजाऊंगा। (९) ब्रह्मचर्य इस प्रकार पालूँगा, ऐसा नियम करना। (१०) आज इतनी वार स्नान करूँगा, अधिक नहीं। (११) आज इतने और इतने प्रकार के आभूषण पहनूंगा अधिक नहीं। (१२) अमुक २ वस्त्र इतने वार पहनूंगा ज्यादा नहीं। (१३) गाड़ी घोडा, ऊँट, रथ, तांगा, बग्घी, पालकी, मोटर, रेल, जहाज, आदि में आज बैठूंगा या नहीं। (१४) पलंग, गद्दा आदि इतने प्रकार के बिछाऊँगा, अधिक नहीं। (१५) बेंच, कुरसी, मेज आसन, इतने के सिवा अन्य का त्याग (१६) शाक तरकारी, आदि फल इतने सेवन करूँगा। ऐसा नाम खोलकर बाकी का त्याग करना। (१७) अन्यान्य वस्तु इतने प्रकार की रखूँगा बाकी का त्याग। अथवा आज में इन २ दिशाओं में इतनी २ दूर जाऊँगा अधिक नहीं। इस प्रकार व्रती श्रावक सब नियमों को निरतिचार पालता है। पिछले दिन के नियमों को भी विचार लेता है कि उनमें कोई दूषण नहीं लगा। यदि लगा होवे तो प्रायश्चित्त लेकर उसकी शुद्धि कर लेता है। अनाचार रूप प्रवृति न होजावे इसका सदा ध्यान रखता है।

भोगोपभोगपरिमाण व्रत के पांच अतिचार

सचित्तं तेन सम्बद्धं, सम्मिश्रं तेन भोजनम्।
दुष्पक्कमप्यभिषवं, भुञ्जानोऽत्येति तद् व्रतम् ॥ २०–५ ॥ [सा. ध.]

अर्थ—सचित्त पदार्थों का भक्षण २ सचित्त से संबंध रखनेवाले पदार्थों का खाना, ३ सचित्त से मिले हुए पदार्थों का खाना, ४ कम पके (अग्निपर) या ज्यादा पके पदार्थों का खाना, ५ अभिषव (गरिष्ठ) पदार्थों का खाना। ये इस व्रत के अतिचार हैं। इनका खुलासा इस प्रकार है—

१ सचित्त—जिनमें चेतना विद्यमान है ऐसी ककड़ी आदि हरित वस्तु को सचित्त कहते हैं। इनको प्रासुक रूप में ही भक्षण करना अन्यथा नहीं, नहीं तो अतिचार होगा। प्रश्न–सचित्त भक्षण अतिचार ही क्यों कहा अनाचार क्यों नहीं ? समाधान–पदार्थ को गृद्धता से भक्षण करना अनाचार होता है। सूक्ष्मरूप से दोष लगना अतिचार है–जैसे त्यागी हुई वस्तु में भूल से एक बार प्रवृत्ति हो जावेतो अतिचार, यदि बार २ होतो अनाचार है।

२ सचित्त संबन्ध—जिसके साथ चेतना वाले का संसर्ग है जैसे— गोंद तथा कई प्रकार की सब्जी पुष्प, फल, सचित्त जल आदि का अचित्त भोज्य पदार्थों से संबन्ध होजाना सचित्त सन्बन्ध है। ऐसे पदार्थ को व्रती खावे तो यह दूसरा अतिचार है।

३ सचित्त सम्मिश्र—जिस पदार्थ में सचित्त वस्तु मिल गई हो और बहुत प्रयत्न करने पर भी वह उससे अलग न हो सके, ऐसा पदार्थ भूल से भक्षण मे आवे तो अतिचार है। प्रमाद से भक्षण करले तो वही अनाचार होजाता है।

४ दुष्पक—जो पदार्थ अग्निपरयोग्यता से अधिक पका दिया या कचा ही रहगया हो वह दुष्पक है। जैसे–एक पात्र चूल्हे पर, पानी भर कर चढ़ाया, उसमे चावल आदि सीझने को रखदिये हों। उनमें से थोडे चावल तो पक गये हों और थोड़े कच्चे रह गये हों। ऐसे अधकचे या अधपके–चावल, जौ गेहूं, फल आदिक पदार्थ को खाना अतिचार है। क्योंकि ऐसी वस्तु खाने से अनेक प्रकार के रोग पैदा हो जाते हैं। सिद्धान्त मे बतलाया गया है कि जो पदार्थ जितने अंशों मे कच्चा रहगया है वह योनिभूत हो (जैसे-गेहूं, जो आदि) अथवा फलादि ही वह सचित्त रहने पर बीमारी का कारण धर्मध्यान में बाधा कारक है। उससे इस भव में वेदना तथा परलोक के लिये कर्मबन्ध होता है। इसलिये ऐसे दुष्पक पदार्थ को छोडना ही चाहिये।

५ अभिषव—कांजी आदि पतले पदार्थों का तथा खीर आदि पौष्टिक पदार्थों को अभिषव कहते हैं। जब शक्ति न्यून हो जाती है तब ये पदार्थ काम नहीं देते, धर्म साधन में बाधा खड़ी हो जाती है। ऐसे पदार्थों के सेवन की इच्छा रखना अतिचार है। इससे व्रती को बंचना चाहिये।

सचित्तादि अतिचारों को समझाने के लिये श्री चारित्र सार ग्रथ में श्री चामुण्डरायजी ने युक्ति दी है कि–इन सचित्त आदि पदार्थों के खाने से अपना उपयोग सचित्त रूप होजाता है। सचित्त रूप वस्तु के उपयोग करने से इद्रियों के मद की वृद्धि होती है, तथा वात पित्त प्रकोप आदि अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उन रोगों को दूर करने के लिये औषधियों का सेवन करना पड़ता है, जिसमें सचित्त वनस्पति आदि के सेवन करने से फिर पाप संपादन होता है। इसलिये व्रती श्रावक को ऐसे सचित्तादि अपथ्य व आहार का सदा के लिये त्याग करदेना चाहिये।

श्वेताम्बर संप्रदाय के १५ खर कर्म

व्रतों को दृढ़ रखने तथा अतिचारों से बचने के लिये श्वेताम्बराचार्य पन्द्रह खर कर्मों के त्याग का उपदेश देते है, वे इस प्रकार हैं:—

व्रतयेत्खरकर्मात्र मलान् पंचदश त्यजेत् ।

वृत्ति वनग्न्यनस्फोटभाटकैर्यन्त्रपीड़नम् ॥ २१ ॥
निर्लाञ्छनासतीपोषौसरः शोषं दवप्रदाम् ।
विषलाक्षादन्तकेश,रसवाणिज्यमङ्गिरूक् ॥ २२ ॥
इतिकेचिन्नतच्चारु, लोके सावद्यकर्मणाम् ।
अगण्यत्वात्प्रणेयं वा, तदप्यतिजड़ान् प्रति ॥ २३—५ ॥ [सागार ध.]

अर्थ—जीवों को पीडा पहुंचाने वाले खर कर्म अर्थात् क्रूर व्यापार छोड़-देना चाहिये, तथा इस व्रत के नीचे लिखे १५ मल (अतिचार) त्याज हैं—

(१) वनजीविका—(वृक्ष आदि कटवाकर जीविका करना) (२ अग्निजीविका—कोयले बनाना, चूने के भट्टे लगाना आदि) (३) अनोजीविका—(शकटजीविका) अर्थात् गाडी रथ आदि बनवाना बेचना या किराये चलाना) (४) स्फोटजीविका—(पटाखे बारूद महताब आदि द्वारा जीविका करना) (५) भाटकजीविका—(गाडी घोडा आदि से बोझा ढोकर जीविका करना) (६) यंत्रपीडनजीविका—(कोल्हू घाणी आदि द्वारा तेल आदि निकलवाना या व्यापार करना) (७) निर्लाञ्छनजीविका—(बैल आदि के नाक आदि छेदकर जीविका चलाना) (८) असतीपोष—(घातकजीव सिंह बिल्ली आदि द्वारा जीविका करना या दास दासी रखकर उनसे भाडा आदि कार्य करना) (९) सरः शोषजीविका—(धान्य बोना, नहर आदि से पानी देना जिससे त्रस जीवों की विराधना हो) (१०) दावानल लगाकर जीविका करना (११) विष वाणिज्य करना (१२) लाक्ष्य व्यापार (१३) दन्तवाणिज्य (हाथी आदि के दांतों को मंगवाना व व्यापार करना) (१४) केश व्यापार (पशुओं का व्यापार करना तथा उनके केश आदि का व्यापार करना) (१५) रसवाणिज्य—(मक्खन मधु, मद्य अर्क शर्बत आदि का व्यापार करना जिनमे हिंसा का दोष लगता हो)

इस प्रकार श्वेताम्बर आचार्यों ने यह पन्द्रह प्रकार के ही खरकर्म माने हैं। किन्तु दिगम्बर जैन समाज में इस तरह की संख्या नियत नहीं मानी है। खर कर्म इनसे भी अधिक अगणित हो सकते हैं, जिन सभी का त्याग करना चाहिये। और ये सब तो हमारे द्वारा निर्दिष्ट त्रस घात या बहु स्थावर घात के त्याग में ही अन्तर्गत हो जाते हैं।

अतः त्याग हिंसा का होना चाहिए जिसमें सभी प्रकार के खर कर्म आजावें।

अतिथि सम्विभागव्रत नामा शिक्षाव्रत का स्वरूप

"व्रतमतिथिसंविभागः पात्रविशेषाय विधिविशेषेण ।
द्रव्यविशेषवितरणं दातृविशेषस्य फलविशेषश्च ॥ १ ॥"

भावार्थ—जो दाता शास्त्रों में कही गई विशेष विधि के अनुसार पात्र विशेष के लिए आगे निर्दिष्ट किये गये विशेष द्रव्य देता है उसको अतिथि संविभाग कहते हैं ।

अपने लिये तैय्यार किये निर्दोष भोजन में से जो कुछ अतिथि के लिए दिया जाता है उसे भी अतिथि संविभाग कहते हैं । इसका पालन प्रति दिन करने से इसकी व्रत संज्ञा है ।

भक्ति सहित फल की इच्छा के बिना धर्मार्थ मुनि व आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि श्रेष्ठ पुरुषों को दान देना या और भी दूसरे प्रकार से शास्त्रों का जीर्णोद्धार करना कराना या पुराने मन्दिर व पुरातन अतिशय सहित प्रतिमाओं का जीर्णोद्धार करना या अहारदान देकर दीन गरीब पशु पक्षी मनुष्यों का उपकार करना औषधि देकर दुःखी जीवों का उपकार करना या अभयदान देकर सुखी करना श्रावक का कर्त्तव्य है ।

श्रावकों के दो मुख्य कर्त्तव्य ।

भगवान कुन्दकुन्द स्वामी ने रयण सार में श्रावक लिये दो मुख्य निम्न लिखित कर्त्तव्य बतलाये हैं ।

"दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मेण सावया तेण विणा ।
झाणज्झयणं मुक्खं जइ धम्मे तं विणा तहा सोवि ॥ ११ ॥
जिणपूजा मुणिदाणं करेई जो देई सत्तिरुवेण ।
सम्माइट्ठि सावय धम्मी सो होई मोक्ख मग्गरओ ॥ १२ ॥

अर्थ—श्रावक धर्म अनादि काल से जो प्रवर्तमान है उसमें दो वस्तु मुख्य हैं-एक तो मुनियों को आहार दान करना, दूसरा श्री जिनेन्द्र देवाधिदेव का प्रतिदिन पूजन करना। इन दोनों कर्त्तव्यों से ही जैन धर्म है, इनके बिना जैन धर्म नहीं है।

मुनि धर्म उसे कहते हैं जहां पर ध्यान और अध्ययन मिले। तात्पर्य यह है कि मुनि के लिये ध्यान अध्ययन मुख्य एवं आवश्यक है। इन दोनों में मुख्य ध्यान और गौण अध्ययन है।

जो श्रावक प्रतिदिन भगवान् अर्हन्त का पूजन करता है और द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की योग्यतानुकूल मुनियों को आहार दान करता है वह नियम से सम्यग्दृष्टि श्रावक कहा जाता है। और वह श्रावक मोक्ष मार्ग में रत होता हुआ परम्परा से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

गृहस्थ के लिये देवता पूजन मुख्य है, अतः पूजा अर्हन्त देव की ही करनी चाहिए। रागद्वेष से रहित ही उपासनीय देव हो सकता है। अन्य की उपासना देव मूढता कहलाती है। कहा है—

देव मूढता का स्वरूप

"वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवताः यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥ [रत्नकरण्ड श्रा.]

अर्थ—आशा व तृष्णा के वशी भूत होकर किसी वर प्राप्ति के निमित्त जो राग और द्वेष आदि दोषों से मलीन देवताओं की जो उपासना पूजा और भक्ति की जाती है उसे देव मूढता कहते हैं।

सम्यग्दृष्टिजीव अपने सम्यग्दर्शन को शुद्ध रखने के लिये अर्हन्त के अतिरिक्त किसी भी देवता की नतो पूजा ही करता है और न उसे मानता है। क्योंकि वह देव नहीं है, कुदेव मिथ्यादृष्टि एवं संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं। सम्यग्दृष्टि द्वारा वह किसी भी अवस्था में पूज्य नहीं है।

यक्षयक्षिणी आदि देवी देवताओं की उपासना कोई फल दायक नहीं

शंका—जैन सासन में जो क्षेत्रपाल यक्ष यक्षिणी आदि देव देवियां हैं वे तो जिन धर्म के उपासक लोगों की रक्षा करती हैं। फिर आप इनकी पूजा का निषेध क्यों करते हो? आदि पुराण में ऐसा वर्णन मिलता है कि नमि विनमि कुमार को धरणेन्द्र ने विजयार्ध पर्वत की

दक्षिण और उत्तर श्रेणी का राज्य दे दिया।

उत्तर—नमि और विनमि कुमार ने भगवान ऋषभ देव से ही भोले भावों से जाकर प्रार्थना की थी, धरणेन्द्र की उपासना नहीं की थी। आदिनाथ स्वामी की भक्ति करने से ही धरणेन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ और भगवान के पास नमि विनमि कुमार भक्ति सेवा कर रहे हैं और भोले पन से राज्य की याचना कर रहे हैं–ऐसा अवधि ज्ञान से विचार कर वहां पर आया। उन दोनों को अपने कंधेपर चढ़ाकर लेगया और भगवान की भक्ति करने से प्रसन्न होकर उन को विजयार्ध पर्वत की दक्षिण एवं उत्तर श्रेणी के विद्याधरों का राजा बनादिया। पर इससे वह उपासनीय नहीं हो सकता।

शासन देवताओं की पूजा का निषेध

शासन देवताओं के पूजन का कथन किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता है। निषेध अनेक ग्रन्थों में मिलता है। स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है:—

"ण वि कोइ देइ लच्छी ण कोइ जीवस्स कुणइ उवयारं।
उवयारं अवयारं कम्मपि सुहासुहं कुणइ॥ ३१६॥
भत्तिय पूज्जयमाणो विंतरदेवो वि देइ यदि लच्छी
तोकं धम्मं कीरइ एवं चित्तेइ सदिट्ठी॥ ३२०॥
जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अह व मरणं वा॥ ३२१॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदुं इंदो वा अहमिंदो वा॥ ३२२॥
एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्व पज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुदिट्ठी॥ ३२३॥

अथ—यहां कोई पुरुप यह समझे कि संसार में जिन शासन देव रक्षक हैं यह उनकी भूल है। भाग्योदय ही प्रधान है। कोई देव जिन शासन का क्षेत्रपाल पद्मावती यक्ष यक्षिणी धरणेन्द्र तथा देवियां श्री ह्रीधृति आदि एवं रागी द्वेपी होकर देव कहलाने वाले या व्यंतर भूत प्रेतादि किसी का कुछ नहीं कर सकते हैं। उनकी किसी को कुछ भी देने की सामर्थ्य नहीं है, भाग्य ही में सब सामर्थ्य है।

अनेक भोले प्राणी यह समझते हैं कि अमुक देव हमको धन संतान देकर या शांति पौष्टिक जय जीवन आदि कार्य करके उपकार कर सकते हैं। एवं रुष्ट होने पर हमको दरिद्री बना सकते हैं, संतान नष्ट कर सकते हैं, जय एवं पराजय भी प्रसन्न एवं रुष्ट होकर करने की सामर्थ्य रखते हैं। यह सब समझना उनकी भूल है। ये देव नतो किसी का कुछ उपकार ही कर सकते हैं और न किसी का अपकार कर सकते हैं। जो कर्म पूर्व बंध चुके हैं वेही उदय में आवेंगे और तदनुसार फल भोगना होगा। यह ही दृढ़ एवं अटल शास्त्रकारों का सिद्धान्त है।

सम्यग्दृष्टि जीव दान करते हैं और उससे ही भविष्य में प्राप्ति की आशा करते हैं। वे जानते हैं कि जो पूर्व भव में हमने दान दिया है उसका फल हम अब भोगरहे हैं और जो अब कुछ दान करेंगे एवं पुण्य करेंगे उसका फल आगे भोगेंगे। व्यन्तर आदि देव ही सन्तान धन आदि देने की सामर्थ्य रखते तो संसार में फिर दान और पुण्य लोग क्यों करते? इस से मालूम होता है कि भाग्य ही एवं पूर्व संचित पुण्योदय ही सम्पत्ति आदि के देने की सामर्थ्य रखते हैं। कोई देव कुछ नहीं कर सकते।

जिस जीव का जिस देश में जिस काल में जिस प्रकार जन्म, मरण, सुख-दुख, रोग, योग—वियोग, ताप आक्रन्दन आदि होना है उस देश में उस काल में उसी विधान से अवश्य होगा, टल नहीं सकता है। व्यन्तर विचारे क्या कर सकते हैं। उनकी शक्ति यहां कुछ नहीं कर सकती है।

जैसा भाग्य में तथा सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रतीत हुआ है वैसा ही होगा। उसको मिटाने को वा टालने को इन्द्र धरणेन्द्र चक्रवर्ती तथा तीर्थंङ्कर जिनेन्द्र भगवान भी समर्थ नहीं हो सकते हैं और लोगों की तो क्या बात एवं शक्ति है।

उल्लिखित प्रकार निश्चय से सर्व द्रव्य—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनको तथा इनकी पर्यायों को सर्वज्ञ के आगम के अनुसार जानता है श्रद्धान करता है सो श्रावक सम्यग्दृष्टि है।

जो भगवान के वचनों में संदेह करता है एवं अर्हन्त देवको छोड़कर कुदेव रागी द्वेषी देवों की पूजा भक्ति सेवा एवं उपासना करता है वह मिथ्यादृष्टि है। ऐसा जैनाचार्यों का मन्तव्य है।

कर्मों की प्रधानता के उदाहरण

आगे एक श्री रामचंद्र बलभद्र का दृष्टान्त देते हैं।

"कर्मणो हि प्रधानत्वं किं कुर्वन्ति शुभाः ग्रहाः।
वशिष्ठदत्तलग्नश्च रामः किं भ्रमते वनम्॥ १॥"

अर्थ—वशिष्ठजी एक अच्छे ज्योतिषी एवं योगी थे। उन्होंने रामचन्द्रजी के लिये बड़े २ अच्छे ग्रह देखकर मुहूर्त निकाला था। किन्तु वे शुभ ग्रह कुछ भी न करसके। भाग्योदय आनकर अड़गया। उनको वन में जाना पड़ा, घर पर भी न रहसके। भाग्य एवं कर्म ही प्रधान है।

रामचन्द्रजी बलभद्र थे। उनके देव सेवक थे। उन्होंने उस समय उनको राज गद्दी क्यों नहीं दिलादी। इससे पता चलता है कि भाग्य ही सुख दुःख का दाता है। देवताओं की शक्ति किसी के उपकार करके वृद्धि करने की या अपकार कर के ह्रास करने की नहीं है।

एक और भी उदाहरण देखिए—जब सुभौम चक्रवर्ती के पुण्य का उदय था उस समय उसके पास नवनिधि और चौदह रत्न थे जिनके कि प्रत्येक के एक २ हजार अर्थात् २३००० तेईस हजार देव रक्षक थे। इसके अतिरिक्त ५ म्लेच्छ खण्ड की विभूति तथा एक आर्य खण्ड की विभूति इस प्रकार छह खण्ड की विभूति के स्वामी थे, अनेक मण्डलेश्वर राजा सेवा करते थे। अनेक देवता भी सेवक थे—किन्तु जब पाप का उदय आया तब एक क्षुद्र व्यन्तर देवता जो पूर्व जन्म का वैरी था, उसके उपद्रव से सब दब गये एवं पाप के उदय के कारण कोई बल न चला। किसी ने भी रक्षा न की और जब तक पुण्य का उदय था तब तक वह व्यन्तर भी कुछ न बिगाड सका जब पाप का उदय आया, सब सम्पत्ति नष्ट होगई और बुद्धि भी इतनी भ्रष्ट होगई कि नरक में जाना पड़ा।

तात्पर्य यह है पुण्य ही प्रधान है। वह ही रक्षा करसकता है। उसी का संचयकरना चाहिये। इसके अनेक उदाहरण विद्यमान हैं।

कर्मोदय साधु एवं तीर्थंकर को भी नहीं छोड़ता

मुनियों के रागद्वेष नहीं होता। चतुरनिकाय के देव भी उनकी पूजा एवं भक्ति करते हैं, किन्तु जब पाप कर्म का उदय आता है तो उनके उदय को भी कोई नहीं टालसकता।

एक समय राजा दण्डक ने ५०० (पांच सौ) मुनियों को घाणी में पिलवा दिया, देव कुछ न करसके। उनका अवधि ज्ञान कहां चला गया था ?

हस्तिनापुर में अकम्पनाचार्य के ऊपर जो घोर उपसर्ग हुआ उस समय भी देवता कुछ न करसके। कहां जाकर सोगये।

भगवान ऋषभ देव को १३ माह तक आहार न मिला। उस समय देवता कुछ न करसके। क्योंकि भाग्य में ऐसा ही था। उन्होंने पूर्व भवमें १ मुहुर्ततक पशुओं के मुंह छिक्के लगवाये थे। उसका फल उनको अवश्य १२ मास तक आहार का न मिलना भोगना ही था। देवता कैसे टाल सकते थे। इस आख्यान से समझ लेना चाहिये कि देव पुरातन कर्म के उदय को नहीं टाल सकते। जीव को पूर्व कर्मानुसार सुख दुःख अवश्य भोगना पड़ेगा। अतः पुण्य का संचय करना श्रेयस्कर है।

सम्यग्दर्शन की महिमा

"सम्यग्दर्शनमणुव्रतयुक्तं स्वर्गाय महाव्रतयुक्तं मोक्षाय" [चारित्र सार पृ. ३]

"विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥ ३२ ॥
सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥ ३५ ॥
ओजस्तेजो विद्यावीर्ययशोवृद्धिविभवसनाथाः।
महाकुला महार्थाः मानवतिलकाः भवन्ति दर्शनपूताः ॥ ३६ ॥
अष्टगुणपुष्टितुष्टाः दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥ ३७ ॥
नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रं।
वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥ ३८ ॥

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः ।
दृष्ट्वासुविनिश्चितार्था वृषचक्रधराः भवन्ति लोकशरण्याः ॥ ३९ ॥
शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशंकम् ।
काष्ठागतसुखविद्या विभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः ॥ ४० ॥
देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं, लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥ ४१ ॥
[रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

अर्थ — अणुव्रत से युक्त सम्यग्दर्शन स्वर्ग की सम्पत्ति को देता है और महाव्रत से संयुक्त सम्यग्दर्शन मोक्ष के सुख को देता है।

जिस प्रकार बिना बीज के वृक्ष की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और फल का उदय नहीं होता, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रूपी बीज के बिना सम्यग्ज्ञान-और सम्यक् चारित्र रूपी वृक्ष की उत्पत्ति नहीं होती, एवं बिना सम्यग्दर्शन के सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की स्थिति भी नहीं होती एवं वृद्धि भी नहीं हो सकती और स्वर्ग या मोक्ष रूपी फल भी नहीं मिल सकता।

भगवान् अरहन्त देव की पूजा सम्यग्दर्शन के उत्पन्न करने के लिये बीजभूत है। और सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि एवं स्वर्ग और मोक्ष रूपी फल को प्राप्त कर सकते हैं। अतः जिनेन्द्र देव की पूजा का ही भव्य प्राणियों को अवलम्बन करना चाहिये। यक्ष यक्षिणी आदि शासन देवों की पूजा करके मिथ्यात्व की पुष्टि नहीं करनी चाहिये।

यदि प्राणी शुद्ध सम्यग्दर्शन सहित व्रत ग्रहण करलेता है तो मरकर नरक गति, तिर्यञ्चगति, विकलत्रय में नहीं आता है और स्त्री तथा नपुंसक पर्याय को भी प्राप्त नहीं करता है। नीच कुल एवं विकल अङ्ग, अल्प आयु तथा भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी देवपने को एवं दरिद्रता को प्राप्त नहीं करता है। ३५।

शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव कान्ति, प्रताप, विद्या, वीर्य, कीर्ति कुल, वृद्धि, विजय और बड़ी संपत्ति को प्राप्त करते हैं। वे उच्च कुल में जन्म लेकर मनुष्यों के शिरोमणि बडे २ प्रतापी होते हैं। ३६।

जिनेन्द्र देव के भक्त सम्यग्दृष्टि जीव अणिमादि आठ ऋद्धियों के स्वामी एवं देवांगनाओं के सुख के भोगने वाले स्वर्ग में देव होते हैं। ३७।

अष्टऋद्धियां

१ अणिमा—शरीर को इच्छानुसार छोटा बना लेना।

२ महिमा—शरीर को इच्छानुसार बड़ा बना लेना।

३ लघिमा—शरीर को इच्छानुसार हलका बना लेना।

४ गरिमा—शरीर को इच्छानुसार भारी बना लेना।

५ प्राप्ति—अपने शरीर को जहां चाहें वहा पहुंचा देना।

६ प्राकाम्य—अपने शरीर को लेकर गुप्त होजाना, एवं किसी से रुकावट को प्राप्त नहीं करना।

७ ईशित्व—सब का स्वामित्व प्राप्त करलेना।

८ वशित्व—जिसको चाहे उसे अपने आधीन कर लेना एवं अपने वशमें करलेना।

सम्यग्दृष्टि जीव समस्त संसार में उत्कृष्ट भोगों का पूर्ण स्थान, समस्त पृथिवी का स्वामित्व रूप बड़े २ मुकट धारी नृपतियों से वन्दनीय चक्रवर्ती पद प्राप्त करते हैं। इस पद से संसार में उच्च पद दूसरा नहीं है। चक्रवर्ति की आज्ञा में देव विद्याधर एवं भूमिगोचरी राजा रहते हैं। उनके नौनिधिया और चौदह रत्न होते हैं जिनके एक २ हजार देवता रक्षा करते हैं।

क्रमशः नव निधियों का तथा चौदह रत्नों के नाम तथा संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार हैं—

नवनिधि और चौदह रत्न

"रक्षितयक्षसहस्राः कालमहाकालपाण्डुमानवशंखाः।
नैः सर्पपास्यपिंगलनानारत्नाश्च नवनिधयः ॥ १ ॥
ऋतुयोग्यवस्तुभाजनधान्यायुधतूर्यहर्म्यवस्त्राणि।
आभरणवस्त्रनिकरानानुक्रमेण निधयः प्रयच्छन्ति ॥ २

चक्रं छत्रमसिर्दण्डो मणिश्चर्म च काकिणी ।
गृहसेनापतिस्तक्षः पुरोधोऽश्वगजास्त्रियः ॥ २ ॥'

अर्थ—जिनकी एक २ हजार यक्ष सेवा करते हैं ऐसे चक्रवर्ती के पास नवनिधि तथा चौदह रत्न होते हैं। नवनिधियां ये हैं—

१ कालनिधि—ऋतु के योग्य वस्तु देती है।
२ महाकालनिधि—बर्तन देती है।
३ पाण्डुनिधि—सब प्रकार के धान्य देती है।
४ मानवनिधि—तलवार बरछी आदि अनेक प्रकार के शस्त्रों को देती है।
५ शंखनिधि—अनेक प्रकार के वादित्रों को देती है।
६ नैसर्पनिधि—महल मकान को देती है।
७ पास्यनिधि—रेशमी सूती आदि सब वस्त्र देती है।
८ पिंगलनिधि—मुकुट-कुंडल केयूर आदि अनेक प्रकार के आभरण देती है।
९ नानारत्ननिधि—हीरा पन्ना माणिक आदि अनेक प्रकार के रत्नों को देती है।

अब चक्रवर्ती के चौदह रत्नों का वर्णन करते हैं। १४ रत्नों में सात रत्न चेतन होते हैं। और सात अचेतन होते हैं। चेतन रत्न ये हैं—

१ गृहपति २ सेनापति ३ शिल्पकार ४ पुरोहित ५ अश्व ६ गज ७ और स्त्री (पट्टरानी) इन सब की एक २ हजार देव अर्थात् इन सातों की ७००० देव रक्षा करते हैं। सात अचेतन रत्न ये हैं—

१ चक्र २ छत्र ३ असि (तलवार) ४ दण्ड ५ मणि ६ चर्म ७ काकिणी मणि (रत्न) ये सात अचेतन हैं।

इस सम्यग्दर्शन की विशुद्धि से यह जीव धर्म चक्र को धारण करने वाला तीर्थंकर परम देव होजाता है, जिनके चरण कमलों को स्वर्ग के देवों के स्वामी इन्द्र तथा नरेन्द्रों के भी स्वामी चक्रवर्ती और यतियों के स्वामी गणधर देव भी नमस्कार करते हैं। (हिंसा आदि पांच

पापों को मन वचन और काय से त्याग करने का नाम यम है और यम को धारण करने वाले मुनिराज कहलाते हैं और उनके स्वामी यमधर स्वामी गणधर कहलाते हैं। इस कारण यहां पर यमधर स्वामी का अर्थ गणधर लिया गया है।)

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की विशुद्धता से धम, अर्थ, काम और मोक्ष पदका दाता तीर्थङ्कर पद प्राप्त होता है। वे तीर्थङ्कर समस्त संसार के शरणभूत होते हैं एवं उनसे अनेक भव्य जीवों का कल्याण होता है। क्योंकि उनके उपदेशद्वारा अनेक प्रकार के दुःखों के कारण भूत कर्मों को लोग दूर करने में समर्थ होते हैं। ऐसे तीर्थङ्कर ही संसारी जीवों के पूजनीय हैं, एवं उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। अन्य कुदेवों की नहीं। ३९।

तीर्थङ्कर पद की प्राप्ति के कारणभूत १६ भावनाओं का कथन आगे किया जावेगा।

जो जीव संसार के दुःखों से भयभीत होकर सम्यग्दर्शन की उपासना करते हैं और उसमें किसी प्रकार का दोष न लगाकर निर्मलता से पालते हैं, वे जीव अनादिकाल की कर्म पंक्ति को नाशकर जिसमें अविनश्वर सुख है ऐसी मोक्ष पदवी को शीघ्र ही प्राप्त करलेते हैं।

मोक्ष में आधि व्याधि जन्म मरण जरा आदि का भय नहीं है और सदा अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनन्त दर्शन १. अनन्त ज्ञान २. अनन्त सुख ३. और अनन्त वीर्य ४. रहता है। वहाँ द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म तीनों कर्मों में से कोई कर्म भी बाकी नहीं रहता, सब का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। ऐसा मोक्ष यह संसारी जीव सम्यग्दर्शन से ही प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष सुख अनेक प्रकार के चारित्र व तपश्चरण करने से भी मुनि लोग प्राप्त नहीं कर सकते। जो सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र व तपश्चरण मात्र करते हैं वे संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं, मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते, एवं मुक्त नहीं हो सकते। ४०।

आगे सम्यग्दर्शन का फल और भी बताते हैं।

भगवान् जिनेन्द्र की भक्ति करने वाले एवं शुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले भव्यजीव इस सम्यग्दर्शन से अनेक देवों से पूज्य इन्द्र पद को, और बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं से नमस्कृत ५ म्लेच्छ खण्ड तथा १ आर्य खण्ड इस तरह ६ खण्ड के आधिपत्य अर्थात् चक्रवर्ती पद को, तथा तीन लोकों के जीवों से पूजनीय तीर्थङ्कर पदवी को भी प्राप्त करते हैं। ये तीर्थङ्कर धर्म चक्र के स्वामी होते हैं। ४१।

सदा शास्त्रों ने निवृत्ति मार्ग की ही प्रशंसा की है। व्रती का आसन सर्वदा ऊँचा, मान्य और पूज्य रहा है। अहिंसाणुव्रत पालने मात्र से ही यमपाल चाण्डाल तक की भी देवों द्वारा तथा राजाओं के द्वारा पूजन का आख्यान पाया जाता है। विचारने की बात है कि जब चाण्डाल भी व्रत के कारण पूज्य हुवा तो श्रावक की तो क्या बात है।

अतः सदा निवृत्तिमार्ग पर आरूढ अरहन्त भगवान की पूजन ही करनी चाहिये, प्रवृत्ति मार्गी एवं संसार में भ्रमण कराने वाले शासन देव या कुदेवों की पूजन कभी भी नहीं करनी चाहिये।

मिथ्यात्व के अभिवर्धक कारण

जैनों में बहुत से मिथ्यात्व के अभिवर्धक कारण चल पडे हैं–उन को छोडना चाहिए। उनमें से कुछ यहां लिखते हैं—

"सूर्यार्घो ग्रहणस्नानं संक्रान्तौ द्रविणव्ययः।
सन्ध्यासेवाग्निसत्कारो देहगेहार्चनाविधिः॥ १॥
गोपृष्टान्तनमस्कारस्तन्मूत्रस्य निषेवणं।
रत्नवाहनभूवृक्षशस्त्रशैलादिसेवनम्॥ २॥"

अर्थ—प्रतिदिन सूर्य के लिये अर्घ देना, चन्द्र ग्रहण अथवा सूर्य ग्रहण में भिखारियों को अन्नादि देना। सूर्य लगभग १ राशिको एक मास में पूर्ण करता है। जिस राशि पर सूर्य जाता है उसको उसी राशि के नाम सहित संक्रान्ति कहते हैं। प्रायः लोग जब सूर्य मकर राशि पर जाता है तब मकर राशि संक्रान्ति का महत्व मानकर दान देते हैं, उसे यहां संक्रान्ति पर धन व्यय करना अर्थात् दान देना ऐसा कहा है। ये सब बातें लोक मूढता में हैं और मिथ्यात्व की बढ़ाने वाली हैं, अतः सब त्याज्य हैं। एवं जैन धर्म से तथा वास्तविक तात्त्विक दृष्टि से सर्वथा विरुद्ध हैं।

त्रिकाल संध्या करना, आचमन करना, तर्पण करना, अर्घ देना, अग्नि हाथी घोडा, गाय, बैल व मनुष्यों तथा देहली चूल्हा परेंडा एवं गाय की पूँछ को नमस्कार करना, गोमूत्र को मस्तक पर चढ़ाना, रत्न, वाहन, सवारी, पृथ्वी, वृक्ष, खेडी, तलवार, पर्वत, गंगा, सिन्धु, यमुना, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, कावेरी, सरयू महेन्द्रसुता, चर्मवती, वैतिका, क्षिप्रा, वेतवती, सुरनदी, गल्लिका, पूर्णा आदि नदियों के जल से स्नान करने में पुण्य मानना। ब्रह्मा पुष्कर, विष्णु पुष्कर, शिव पुष्कर, तथा और भी जलाशयों में स्नान करना और अपने शरीर के मल की अपेक्षा न रखते हुए तीर्थ स्थानों में तथा नदी समुद्र जहां मिले, वहां पर स्नान करने से पापों का नाश मानना ये सब लोकमूढ़ता है। पाप और पुण्य बुरे और भले कार्यों सेही होता है। अतः विवेक पूर्वक असद् कार्य को छोडकर सत्कार्य में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

विभूतिधारी होने सेही कोई देव नहीं हो सकता।

"देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।

मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥ १ ॥ [आप्तमीमांसा]

तात्पर्य—उल्लिखित पद्य परीक्षा-प्रधानी स्वामी समन्तभद्राचार्य का है। इसको उन्होंने उस समय कहा है जब कि वे आप्त कौन हो सकता है, इस की परीक्षा कर रहे हैं। भगवान् को सम्बोधन करते हुए आचार्य कहते हैं कि हम आपको इन चामरादि क विभूतियों से या आपकी उपासना के लिए देवों के आगमन से बड़ा कदापि मानने को तैयार नहीं हैं। क्योंकि यह हेतु उभयाश्रयी है। अर्थात् देवागमन तथा चामारादि की विभूति तो जो मायावी एवं अन्य देव हैं उनमें भी देखी जाती है। हम परीक्षा प्रधानी हैं। कसोटी पर कसे जाने पर ही किसी को देवता मान सकते हैं। केवल आगम प्रमाण से प्रमाणता नहीं मानते हैं। जब अनुमानादि प्रमाणों द्वारा पदार्थ की सिद्धि होजावेगी तो आगम की भी प्रमाणता मान लेवेंगे। अनुमान के प्रमाण होने पर प्रत्यक्ष एवं आगम प्रमाणता को सब ही तार्किक स्वीकार करलेते हैं।

दूसरी बात यह है हमे अभी आगम प्रणेता की परीक्षा अभीष्ट है। आगम प्रणेता की यदि आप्तता सिद्ध हो जावेगी तो उनका बनाया आगम भी प्रमाण कोटि में आसकता है और जब तक आप्त ही साध्य कोटि में है उससे प्रथम तत्प्रणीत आगम कैसे सिद्ध एवं प्रमाण कोटि माना जाये ? धर्मी के सिद्ध होने पर धर्म का विचार हुआ करता है। इसी प्रकार आप्त की सिद्धि पर आप्तागम की सिद्धता निर्भर है।

भगवान् समंत भद्र ने विभूति एवं प्रवृत्ति मार्ग प्रवर्तक की आप्तता एवं सर्वज्ञता तथा उसका कल्याणकारी देवपना स्वीकार नहीं किया है. उन्होंने वीतरागता, एवं दोषों तथा कर्मों के क्षय कारकता से देवत्व स्वीकार किया है। जैसा कि आगे कहा है।

"दोषावरणयोर्हानिः निःशेषात्यतिशायनात् ।
क्वचित् यथा स्वहेतुभ्योः बहिरन्तर्मलक्षयः ॥
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचित्‌य था ।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥ [आप्तमीमांसा]

अर्थात्—जिसके दोष-रागद्वेषादिक की निःशेष हानि होगई हो तथा ज्ञानावरणादिक कर्म का सर्वथा एवं निःशेष रूप से विनाश होगया हो, वह ही आप्त सर्वज्ञ सच्चा देव हो सकता है और उसी पुरुष के सूक्ष्म-परमाणु आदि अन्तरित एवं दूरार्थक मेरु पर्वत इत्यादि के प्रत्यक्ष का संभव हो सकता है। अतः वह ही पूज्य एवं वंदनीय आप्त तथा सर्वज्ञ है, अन्य नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह निकला कि अन्य कुदेव तथा शासन देव रागी द्वेषी दोषों से भरपूर हैं। अतः सम्यग्दृष्टि से वंदनीय नहीं है अर्हन्त देव को छोड़कर अन्य देवों की उपासना करना मिथ्यात्व है। और संसार में मिथ्यात्व के समान जीव का अपकार करने वाला अन्य नहीं है।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की विशेषता

'न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनुभृताम् ॥ ३४ ॥ [रत्नकरण्ड श्रा.]

अर्थ—संसार में तीनों लोकों और तीनों कालों में सम्यक्त्व के समान उपकारी अन्य कोई पदार्थ नहीं है और मिथ्यात्व के समान अन्य अपकारी कोई पदार्थ नहीं है।

शासन देवता समर्थक ग्रन्थों की अप्रमाणकता

जिन ग्रन्थों में शासन देवों की पूजन का विधान मिलता है वे सब उदर पोषक भट्टारकादि प्रणीत हैं। इस कारण उनसे बचना चाहिये। आर्ष प्रणीत ग्रन्थों में न तो शासन देवताओं की पूजन का विधान है और न हो ही सकता है। क्योंकि जैन धर्म में देव का विशेषण वीतराग लगा हुआ है। शासन देव वीतराग हो नहीं सकते, तो उनके पूजन का विधान भी आर्ष प्रणीत ग्रन्थों में कैसे संभव हो सकता है?

आत्माका उपकार सदा वीतरागसे ही हुआ है और वीतरागसे ही होगा। कभी रागी द्वेषी आत्मोपकारक न हुआ और न होगा। इस कारण सदा वीतराग अरहन्त का ही पूजन करना चाहिये। रागीद्वेषी शासन देव या कुदेवों को नहीं पूजना चाहिये।

सम्यग्दृष्टि शासन देवता की उपासना नहीं करता

सम्यग्दृष्टि एवं श्रावक को विचार करना चाहिये कि हमको देवता क्यों पूजना चाहिये। जब तक किसी का उद्देश्य नहीं बांधा जाता तब तक कार्य की सिद्धि नहीं होती। लक्ष्य बांधना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। यदि आत्माका कल्याण करना है और सम्यग्दृष्टि बनना है तो श्रावक को नियम से रागद्वेष भय लोभ जरा आदिदोषों से रहित, सर्वज्ञ, हितोपदेशी, अर्हन्त-जिसने चारों घातिया कर्मों को नाश कर दिया है वह ही देव पूजना होगा। क्योंकि जैसा लक्ष्य होगा वैसा ही आदर्श सामने रखना होगा। शासन देवता में न तो रागद्वेषादि दोषों से रहितता है और न

सर्वज्ञता तथा कर्मों को चूर्ण कर केवलज्ञानधारी पना है। वह रागीद्वेषी हमारे तुम्हारे समान ही है। फिर उससे आत्म कल्याण क्या हो सकता है? प्रत्युतः उनकी उपासना से हमको संसार में ही भ्रमण करना पड़ेगा। यदि भय लोभ या किसी संसार में डूबने के लिये एवं भ्रमण करने के कारण कुदेव एवं शासन देवों की उपासना करना चाहते हो तो दूसरी बात है, फिर तो आप श्रावक तथा सम्यग्दृष्टि कहलाने के पात्र नहीं हो सकते हो।

भगवान् समन्तभद्र ने कहा भी है।

"भयाशास्नेहलोभाच्चकुदेवागमलिङ्गिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥ ३०॥ [रत्नकरण्ड श्रा.]

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव को भय, आशा, स्नेह या लोभ के वश होकर खोटे देव, खोटे शास्त्र या खोटे गुरुओं की उपासना विनय एवं प्रणाम आदि नहीं करना चाहिये।

पं० आशाधरजी ने भी अनागारधर्मामृत अध्याय ८ श्लोक संख्या ५२ की टीकामें निम्न लिखित गद्य इसी भाव का लिखा है।

"कुदेवा रुद्रादयः शासनदेवतादयश्च" तथा आगे भी लिखा है "पितरौ गुरूराजापि कुलिंगिनः कुदेवाः"

फिर इसका खुलासा स्वयं इस प्रकार किया है—

"माता च पिता च पितरौ, गुरुश्च गुरु दीक्षागुरुः, शिक्षागुरुश्च राजापि किं पुनरमात्यादि रित्यपि शब्दार्थः। कुलिंगिनस्तापसादयः पार्श्वस्थादयश्च कुदेवाः रुद्रादयः शासनदेवतादयश्च"

उल्लिखित आशाधरजी की टीका की पंक्तियों से स्पष्ट है कि जिनको आज शासन देवताओं के नाम से पुकारा जाता है वे सब क्षेत्रपाल पद्मावती धरणेन्द्र आदि सम्यग्दृष्टि श्रावक से सर्वथा पूजनीय नहीं हैं।

जैन मंदिरों में शासन देवताओं की मूर्तियां क्यों?

प्रश्न—यदि ये शासन देवता क्षेत्रपाल आदि जैन शास्त्रानुकूल अपूज्य हैं, तो इनकी मन्दिरों में क्यों स्थापना की जाती है।

उत्तर—जिस समय इतर धर्म का जोर था उस समय लोगों से रक्षा करने के हेतु भट्टारकों ने क्षेत्रपाल पद्मावती आदि की मूर्तियां विराज मान कर जैन मन्दिरों की रक्षा की थी। वह समय वैसा ही था। इसके पश्चात् कालान्तर में वह मार्ग चलपड़ा और भट्टारकों को पक्षपात होगया। अतः यह परिपाटी बनी रही। शुद्धाम्नायी लोगों ने तो अपने मंदिरों में ऐसा नहीं रहने दिया।

शासन देवता की असमर्थता के उदाहरण

इसही प्रकार बृहद् द्रव्य संग्रह में भी कहा है।

"रागद्वेषोपहतार्तरौद्रपरिणतक्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्यादेवानां यदाराधनं करोति जीवस्तत् देवतामूढत्वं भण्यते। न च ते देवाः किमपि फलं प्रयच्छन्ति। कथमिति चेत् । रावणेन रामस्वामिलक्ष्मीधरविनाशार्थं बहुरूपिणी विद्या साधिता। कौरवैस्तु पाण्डवनिर्मूलनार्थं कात्यायनी विद्या साधिता। कंसेन च नारायणविनाशार्थं बह्वयोऽपि विद्याः समाराधिताः। ताभिः कृतं न किमपि रामस्वामिपाण्डवनारायणानाम्। तैस्तु यद्यपि मिथ्या देवता नानुकूलितास्तथापि निर्मलसम्यक्त्वोपार्जितेन पूर्वपुण्येन सर्वनिर्विघ्नतामेति"।

अर्थ—जो राग तथा द्वेष से युक्त और आर्त तथा रौद्रध्यान रूप परिणामों के धारक क्षेत्रपाल चण्डिका आदि मिथ्यादृष्टि देवों का आराधन करता है उसको देव मूढ़ता कहते हैं और क्षेत्र पाल चण्डिका आदि देव कुछ भी फल नहीं देते हैं।

रावण ने श्री रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी के विनाश के लिये बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की थी। कौरवों ने पाण्डवों का मूल से नाश करने के लिये कात्यायनी विद्या सिद्ध की थी। तथा कंसने श्री कृष्णजी नारायण के नाश के लिये बहुत सी विद्याओं का आराधन किया था। परन्तु उन सब विद्याओं ने श्री रामचन्द्र, पाण्डव एवं श्री कृष्ण का कुछ भी अनर्थ नहीं किया। इसके विपरीत श्री रामचन्द्रजी ने इन मिथ्यादृष्टि देवों की आराधना नहीं की किन्तु पूर्वोपार्जित पुण्य एवं निर्मल सम्यग्दर्शन के प्रभाव से सब विघ्न दूर होगये। कहा है—

"जइ देवो वि य रक्खइ मंतो तंतो य खेत्तपालो य।
मियमाणं पि मणुस्सं तो मणुया अक्खया होंति ॥ [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

अर्थ—यदि कदाचित् मरते हुए मनुष्यों की क्षेत्रपालादि देव मंत्र से, तंत्र से या विद्या से रक्षा करने में समर्थ होते तो आज यह संसार अक्षय हो जाता, किन्तु यह कब संभव हो सकता था—कदाचित् असंभव बात भी संभव होती है क्या ?

शासन देवों को पूजना मिथ्यात्व है।

"एवं पेच्छंतो विं हु गहभूयपिसायजोगिनीयक्खं।
सरणं मण्णइ मूढो सुगाढमिच्छत्तभावादो।"

अर्थ—इस तरह संपूर्ण संसार को शरण रहित देखता हुआ भी यह मूर्ख–आत्मा, ग्रह भूत पिशाच यक्षादि देवों की शरण की कल्पना करता है। इसको गाढ़ मिथ्यात्व से अतिरिक्त क्या कहें ?

देव शास्त्र गुरु पूजा के महत्व में भी एक पद्य है—

"विघ्नौघाः प्रलयं यांति शाकिनीभूतपन्नगाः।
विषं निर्विषतां याति पूज्यमाने जिनेश्वरे ॥ १ ॥"

अर्थ—भगवान् जिनेश्वर के पूजने पर विघ्न समूह एवं शाकिनी भूत तथा सर्प संबन्धी उपद्रव दूर हो जाते हैं और विष भी निर्विषता को प्राप्त हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि शाकिनी भूत आदि को उपद्रवकारक कहते हैं। पर जिनेश्वर की पूजा का बहुत महत्व है। जिन पूजा से भूत आदि के उपद्रव नष्ट हो जाते हैं। यक्षादि की उपासना अर्हन्त की उपासना के प्रतिकूल है। अतः हेय और त्याज्य है। ऐसा उक्त पद्य से सिद्ध होता है।

आगे स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा का प्रमाण देते हैं।

"दोससहियं पि देवं जीवहिंसाइसंजुदं धम्मं।
गंथासक्तं च गुरु जो मण्णदि सोहु कुदिट्ठी ॥ ३१८ ॥

अर्थ—जो जीव दोष सहित देव को, हिंसा सहित धर्म को और परिग्रहासक्त लोभी गुरु को पूजता है एवं मान्यता करता है वह मिथ्यादृष्टि है।

और भी कहा है—यशस्तिलक चम्पू में सोम देव आचार्य लिखते हैं—

"देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवताः।
समं पूजाविधानेषु पश्यन्दूरमधः व्रजेत् ॥
ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे।
अतो यज्ञांशदानेन माननीयाः सुदृष्टिभिः ॥ [यशस्तिलक चम्पू ८ उच्छ्वास पा. ३९७]

अर्थ—जो पूजनादि विधान में तीन जगत् के नेत्र रूप श्री अरहन्त देव को तथा व्यन्तरादिक देवताओं को समान समझता है वह नरकगामी होता है।

शास्त्र मे ये व्यन्तरादिक देव केवल शासन की रक्षा के लिये कल्पित किये गये हैं, अतः इनको कुछ यज्ञ भाग मात्र अवश्य प्रदान किया जाता है। सार चतुर्विंशतिका के सम्यक्त्व प्रकरण में भी इन यक्षादि को मानना व पूजना देव मूढता बताया है।

त्रिलोक सार में भी कहा है।

"सिरिदेवी सुददेवी सव्वाण्हसणक्कुमारजक्खाणं।
रूवाणि य जिणपासे मंगलमट्ठविहमवि होदि ॥ ९८८ ॥

अर्थ—श्री जिन प्रतिमा के समीप में श्री देवी, सरस्वती देवी और सर्वाह्न यक्ष तथा सनत्कुमार यक्षों के रूप हैं तथा अष्ट विध मंगल द्रव्य भी विद्यमान हैं। और भी कहा है—

धारा-प्रगृहीतसितविमलवरचामराग्रहस्तोभयपार्श्वस्थविविधमणिकनकविकृतभरणालंकृतयक्षनागमिथुनाः।

[राजवार्तिक अ. ३]

 प. कि. ५

अर्थ जिन चैत्यालय विषैं भली प्रकार ग्रह्या किया है श्वेत निर्मल उत्कृष्ट चामर हस्त के अग्रभाग विषै जिन्होंने तथा जिन प्रतिमा के दो उपार्श्व में तिष्ठते एवं नाना प्रकार की मणि, अर सुवर्ण करि रचित जे आभरण तिनकरि अलंकृत, ऐसे यक्षनि के अरनागकुमारनि के युगल हैं।

आदिनाथ पुराण में भी कहा है—

"तथामी चामरव्राता यक्षैरुत्क्षिप्य वीजिताः ।
निर्धुन्वान्तीव निर्व्याजमागो गोमक्षिकानृणां ॥ ४७–३४ ॥ पर्व

अर्थ—हे भगवन् ! तिहारे यक्षनि करि उठाये और हिलाये ऐसे चमरनि के समूह जेहैं ते मनुष्य निकै पापरूप मक्षिकानैं निष्कपट जैसी होय तैसै उडावैही हैं कहा मानूं ।

"तां पीठिकामलं चक्रुरष्टमंगलसंपदः ।
धर्मचक्राणि वोढानि प्रांशुभिर्यक्षमूर्धभिः ॥ २६१–२२ ॥

अर्थ—या प्रथम पीठीकानैं उन्नत यक्षनि के मस्तक करि धारण किये ऐसे धर्मचक्र जे हैं ते अर अष्ट मंगल द्रव्यनि की संपदा जे हैं ते शोभायमान करे हैं ।

प्रश्न—जो यक्ष जाति व्यन्तरों की गिनाई है वह ही है या उससे भिन्न और भी है ।

उत्तर—आदि पुराण में ऐसा लिखा —

"गदादिपाणयस्तेषु गोपरेष्वभवन्सुराः ।
क्रमाच्छात्रत्रयेद्धाः स्था भौमभावनकल्पजाः ॥ २७४–२२ ॥

अर्थ—तीनों कोटनि के दरवाजेनिके विषैं अनुक्रमतै व्यन्तर, भवनवासी, कल्पवासी, देव गदादिक शस्त्र है हाथ विषैं जिनके ऐसे द्वारपाल होते भये ।

भावार्थ—इत्यादि वचननितैं जानिये हैं कि व्यन्तरनिका अधिकार द्वारपालनि में भी बाह्य कोटि में है, तो यहां अति निकट कैसे

संभवे। तातें व्यन्तर नहीं है कुबेर ही हैं। व्यन्तर जाति भगवान से दूरही रहती है।

प्रश्न—यदि द्वारपाल भगवान् के समवशरण में देवता रहते हैं, तो इनको भी नमस्कार करना चाहिये, अन्यथा ये नाराज होजावेंगे तो समवशरण में नहीं जाने देवेंगे, तो फिर भगवान् के दर्शन से वंचित्त रहना पडेगा।

उत्तर—आदि पुराण में लिखा है कि देवता मनुष्यों को नमस्कार करते हैं, मनुष्य देवों को नमस्कार नहं करते।

"ज्ञात्वा तदा स्वचिह्नेन सर्वेऽप्यगुः सुरेश्वराः।
पुरीं प्रदक्षिणी कृत्य तद्गुरुं च ववन्दिरे॥ १६६–१२॥

अर्थ—तदा कहिये गर्भावतार समय में सब ही सुरेश्वर अपने चिह्ननिकर भगवान के गर्भ कल्याणक को जान आवत भये, और पुरी ने प्रदक्षिणा देय भगवान् के माता पिता जे हैं तिने वंदते भये।

ततस्तौ जगतां पूज्यौ पूजयामास वासवः।
विचित्रैर्भूषणैः स्रग्भिरंशुकैश्च महार्घकैः॥१–१४॥

अर्थ—तदनंतर जगत में पूज्य ऐसे भगवान के माता पिता जे हैं तिन्हें सौधर्मेन्द्र, विचित्र आभूषणनि करि, मालानि करि, वस्त्रनि करि महान् अर्घनि करि पूजतो भयो।

प्रश्न—भगवान के माता पिता नमस्कार नहीं करें तो और लोग तो नमस्कार करते होंगे, जैसे उनके ही कुटुम्बी अन्य मनुष्य नगरवासी आदि?

उत्तर—पांचों ही कल्याणक में सौधर्मेन्द्र आदि के आने का वर्णन तो शास्त्रों में मिलता है किन्तु मनुष्यों के देवों का नमस्कार करना कहीं नहीं लिखा है। शमवसरण में जब भरत चक्रवर्ती गये तब वे धर्म चक्र एवं ध्वजादि का पूजन करते हुए स्वयंभू के पास जाकर नमस्कार किया यहां पर द्वादश सभा एवं सौधर्मादि देवों के नमस्कार को नहीं लिखा। और जब तक भगवान ने दीक्षा ग्रहण नहीं की उससे प्रथम सौधर्मेन्द्र नित्यप्रति भोग सामग्री लेकर भगवान के पिता के घर पर आता था। वहां पर भी देवों को मनुष्यों द्वारा वंदना करना नहीं लिखा मिलता है। पुर नगर ग्राम देश आदिका विभाग तो पाया जाता है किन्तु मनुष्य देवों को नमस्कार करते हैं यह विधान नहीं पाया जाता। इस

कारण से सम्यग्दृष्टि को वीतराग देव के सिवाय अन्य देवादिकों को नमस्कार नहीं करना चाहिये।

नेमिचंद्र प्रतिष्ठापाठ में भी वीतराग से अन्य देवों की पूजन करना देव मूढ़ता शब्द से लिखा है।

महापुराण के निम्न लिखित श्लोक कहते हैं—

ततो दौवारिकैर्देवैः संभ्राम्यद्भिः प्रवेशितः।
श्रीमण्डपस्य वैदग्धीं सोऽपश्यत्स्वर्गजित्वरीम् ॥ १८—२४ ॥

अर्थ—अनन्तर आदर सत्कार करने वाले दरवाजे पर खड़े हुए ऐसे द्वारपालों ने राजा भरत का आदर से भीतर प्रवेश कराया।

यदि देवों के नमस्कार का विधान होता तो वहां पर भी देवों का नमस्कार करने का विधान अवश्य मिलता। किन्तु देवता आदर सत्कार पूर्वक मनुष्यों का समवशरण में प्रवेश कराते हैं, ऐसा विधान मिलता है। अतः मनुष्य पर्याय विशेष आदरणीय है और उसमें भी वीतरागत्व गुण से पूज्नीयता सर्व प्रथम है, ऐसा जानना चाहिये।

मनुष्यों द्वारा देवों के नमस्कार का विधान न मिलकर उससे प्रतिकूल देवों के द्वारा मनुष्यों के आदर का विधान मिलता है। भरत-चक्रवर्ती का देवों द्वारा सत्कार इस प्रकार हुआ—

निर्देशैरुचितैश्चास्मान् संभावयितुमर्हसि।
वृत्तिलाभादपि प्रापस्तल्लाभः किंकरैर्मतः ॥ १०१ ॥
मानयन्निति तद्वाक्यं स तानमरसत्तमान्।
व्यसर्जयत्स्वसात्कृत्यथा स्वंकृतमानसान् ॥ १०२ ॥ [आदि पुराण पर्व ३२]

अर्थ—हे देव! (भरत चक्रवर्तिन्) उचित आज्ञा के द्वारा हम से आप सत्कार के योग्य हो। क्योंकि सेवक लोग प्रायः उपजीविका की प्राप्ति होने से भी स्वामी की आज्ञा का बहुत सन्मान करते हैं। १०१॥ इस प्रकार के उस देव के वाक्यों को सत्कारित करते हुए भरत यथायोग्य उस मागध देवको अपनादास बनाकर विदा किया। १०२।

और भी प्रमांण देखिए—

"पुरोधाय शरं रत्नपटले सुनिवेशितं ।
मागधः प्रभुमानं सीदार्य स्वीकुरु मामिति ॥ १५६ ॥
चक्रोत्पत्तिचणे भद्रयन्नार्यमोऽनभिरामकाः ।
महान्तमपराधं नस्तं चमस्वार्थितो मुहुः ॥ १६० ॥
युष्मत्पादरजः स्पर्शाद्वार्धिरेव न केवलं ।
पूता वयमपि श्रीमंस्त्वत्पादांबुजसेवया ॥ १६१ ॥ [आदि पुराण पर्व २०]

अर्थ—रत्न के पिटारे रखे हुए वाण को भरत के सामने रखकर मागध देवने भरत को नमस्कार किया और कहा कि हे प्रभो ? मैं उपस्थित हूं अब आप मुझे अपना ही समझिये । हे स्वामिन् ! हम अज्ञानी लोग चक्र उत्पन्न होने के समय ही उपस्थित नहीं हुए, यह हमारा बड़ा अपराध हुआ । हे ! प्रभो ! हम बार २ प्रार्थना करते हैं कि हमारे अपराध चमा करें । हे ऐश्वर्यशालिन् ! आपके चरणों की धूलि का स्पर्श करने से यह केवल समुद्र ही पवित्र नहीं होगया है, किन्तु आप लोगों की चरण सेवा करने से हम लोग भी पवित्र होगये हैं ।

आगे इस की पुष्टि में और भी प्रमाण देखिए:—

"तत्रावासितसाधनो निधिपतिर्गत्वा रथेनाम्बुधिं ।
जैत्रास्त्रप्रतिनिर्जितामरसभस्तद्वयन्तराधीश्वरं ॥
जित्वा मागधवत्त्वरात् वरतनुं तत्साद्‌ध्वर्मंमोनिधि–
द्वीपं शश्वदलं चकार यशसा कल्पान्तरस्थायिना ॥ १६६ ॥
लेभेऽमेद्यमुरश्छदं वरतनोर्ग्रैवेयकं च स्फुरत् ।
चूडारत्नमुदंशुदिव्यकटकान् सूत्रं च रत्नोज्ज्वलं ।
सद्रत्नैरिति पूजितः स भगवान् श्री वैजयन्तार्णव–

द्वारेण प्रविसन्निवृत्य कटकं प्राविचदुत्तोरणं ॥ १६७ ॥ [आदि पुराण पर्व २६]

अर्थ—जिसने अपनी सब सेना को किनारे पर छोड़ दी है और विजय करने वाले शस्त्रों से मगध देवा सभा जिसने जीत ली है ऐसे उस निधियों के स्वामी भरतने रथ में बैठ कर समुद्र में जाकर व्यन्तरों के स्वामी वरतनु देव को भी मागध देव के समान जीता और उस वरतनु नाम समुद्र के द्वीप को कल्पान्त कालतक टिकने वाले यश से सदा के लिये सुशोभित किया। १६६।

उसने भरत को कभी न टूटनेवाला कवच, देदीप्यमान हार, प्रकाश मान चूड़ा रत्न, दिव्य कड़े और रत्नों से प्रकाशमान यज्ञोपवीत (जनेऊ) ये सब चीजें दीं। १६७।

प्रभासमजयत्तत्र प्रभासं व्यंतरप्रभुं ।
प्रभासमूहमर्कस्य स्वभासातर्जयन् प्रभुः ॥ १२३—३० ॥

अर्थ—अपनी कान्ति से सूर्य की कान्ति को लज्जित करते हुए भरत ने वहां जाकर प्रभास नाम के व्यन्तरों के स्वामी को जीता और प्रभास नाम के क्षेत्र को अपने आधीन किया। १२३।

स प्रणामं च संप्राप्तं तं वीक्ष्य सहसाविभुः।
यथार्हप्रतिपत्याऽस्मायासनं प्रत्य पादपत् ॥ ६५ ॥ [आदि पुराण पर्व ३१]

अर्थ—आते ही कृतमाल देवने भरत चक्रवर्ती को नमस्कार किया और भरतने यथा योग्य सत्कार करके उसे आसन दिया।

हे देव हम लोग दूर २ तक अनेक देशों में निवास करने वाले व्यन्तर हैं। अब आप हम लोगों को अपने समीप रहने वाले सिपाहियों के समान बना लीजियेगा।

अथ तत्र कृतावासं ज्ञात्वा सनियमं प्रभुं ।
अगान्मागधवत् द्रष्टुं विजयार्धाधिपः सुरः ॥ ३७ ॥ [आदि पुराण पर्व ३२]

अर्थ—नियम के अनुसार भरत ने वहां डेरे किये, यह जानकर विजयार्ध पर्वत का स्वामी व्यन्तर विजार्ध देव मागध देव के समान भरत के दर्शन के लिये आया।

सिन्धुदेव्यान्यपेचि सः ॥ ७६ ॥ [आदि पुराण पर्व ३२]

अर्थ—सिन्धु देवी ने भरत का अभिषेक किया। सैंकड़ों सुवर्ण के कलशों से भरे हुए पुण्य रूप सिन्धु नदी के जल से भद्रासन पर बैठाकर महाराज भरत का अभिषेक अपने हाथों से किया और कहा कि हे देव ! मैं आज आपके दर्शन से पवित्र हुई हूं।

श्लोक नं० १६६ में गंगादेवी ने भरत का अभिषेक गंगाजल से किया ऐसा लिखा है। राजा भरत का अभिषेक देवों ने आकर किया था। पर्व ३७ में ऐसा लिखा है।

अनेक देव उनके अंग की रक्षा करने वाले उनको सदा नमस्कार करते रहते थे। पर्व ३७।

षोड़शास्यस गणबद्धामराः प्रभोः।
ये युक्ताधृतनिर्स्त्रिशा निधिरत्नात्मरक्षणे ॥ १४५ ॥ [आदि पुराण पर्व ३७]

अर्थ—उस महाराज भरत के १६००० सोलह हजार गणबद्ध व्यन्तर देव थे जो कि हाथ में तलवार लेकर निधि रत्न और चक्रवर्ती की रक्षा करने में नियुक्त थे।

राजवार्तिक अध्याय ६ श्लोक ५ पा० २४६ धारा ५-तत्र चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणासम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया, अन्य देवतास्तवनादि रूपा मिथ्यात्वहेतुका प्रवृत्तिर्मिथ्यात्वक्रिया।

अर्थ—तत्र कहिये तिनि क्रियानि में जिन प्रतिमा, निर्ग्रन्थ, गुरु जिनागम इनकी पूजा स्तवन वंदना है सो सम्यक्त्व वधावने वाली क्रिया है। अर चैत्य, गुरु, जिनागम से अतिरिक्त अन्य देवता का पूजन करना, वंदना करना मिथ्यात्व की कारणभूत प्रवृत्ति जो है सो मिथ्यात्व क्रिया है। कहा भी है—

विवाहजातकर्मादौ मंगलेष्वखिलेषु च।
परमेष्टिन एवाहो न क्षेत्रपालकादयः ॥ [सिद्धान्त सार]

अर्थ—जिस विदेह क्षेत्र मे पूर्ण धर्म का श्रद्धान है उस स्थान मे भी विवाह जात कर्म आदि समस्त मंगल कार्यों में परमेष्ठी की पूजन करनी चाहिये, ऐसा विधान है, एवं वैसा ही किया जाता है। क्षेत्रपाल आदि रागी द्वेषी देव मान्य नहीं है।

वर्ततेजिन पूजायां दिनंप्रति गृहे गृहे।
सर्वमंगलकार्याणां तत्पूर्वत्वात् गृहेशिनाम् ॥ ३६ ॥ [उत्तर पुराण के महावीर पुराण में]

अर्थ—अयोध्यापुरी के भीतर गृहस्थों के मंगल कार्य के अंदर परमेष्ठि ही (जिनपूजन ही) मुख्य है। अन्य देव सम्यग्दृष्टि श्रावक पूज्य हो नहीं सका।

अष्टपाहुड़ के मोक्ष पाहुड़ भाग में कहा है कि—

"हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्त' ॥ ९० ॥

अर्थ—जो देव हिंसा रहित धर्म का प्रतिपादक, १८ अठारह दोष रहित निर्ग्रन्थ हो वही सम्यग्दृष्टि को पूज्य है, अन्यथा नहीं।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी कहा है।

"णिज्जिय दोसं देवं सव्वेजीवा दयावरं धम्मं।
विज्जिय गंथं च गुरु' जो मण्णइ सोहु सद्दिहा ॥ ३२२ ॥
दोससहियं पि देवं जीवे हिंसाइ संजुदं धम्मं।
गंथासत्त' च गुरु मण्णइ सोहु कुदिट्ठी ॥ ३२३ ॥

अथ—जो रागद्वेषादि वर्जित देव को और सब जीवों में दया प्रधान धर्म को और निर्ग्रन्थ गुरु को मानता है एवं पूजता है वह सम्यग्दृष्टि है।

और जो पुरुष दोष सहित देव को, दया रहित धर्म को और परिग्रह सहित गुरु को पूजता है वह प्रगट मिथ्यादृष्टि है।

पद्मनंदीपंचविंशतिका में भी लिखा है—

जिनदेवो भवेद्देवस्तत्त्वं तेनोक्तमेव च ।
यस्येति निश्चयः सः स्यान्निःशंकितशिरोमणिः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जिनदेव ही एक देव है, जिनदेव भाषित ही एक तत्त्व है, जिसक इस प्रकार का निश्चय है वह निःशंकित पुरुषों में शिरोमणि है।

चर्चासागर ग्रन्थ में भी कहा भी है—

देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवता ।
समंपूजा विधानेषु पश्यन् दूरं व्रजेदधः ॥ १ ॥

अर्थ—तीन जगत के नेत्र श्री जिनेन्द्र देव और रागी द्वेषी व्यन्तरादिक देवताओं को जो पूजा विधान में समान माने तथा समान देखे, वह प्राणी दूरवर्ती जो अधोलोक अर्थात् नरक उसके प्रति गमन करता है।

कौन पूजनीय है और कौन नहीं ?

भगवन् कुंदकुंद दर्शन पाहुड़ में कहते हैं—

असंजदं ण वंदे वत्थविहिणो सो ण वंदिव्वो ।
दुण्णि वि हुंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥ २६ ॥

अर्थ—असंयमी को नहीं वंदिये। तथा भाव संयम नहीं होय अरबाह्य वस्त्र रहित होय सोभी वंदवे योग्य नहीं हैं क्यों कि यह दोनों ही सयम रहित हैं। इनमें एक भी संजमी नहीं।

उत्तर पुराण में वर्द्धमान पुराण में कहा है—

इति तद्भाषितं श्रुत्वा वरिष्टः श्रावकेष्वहं ।

नान्यलिंगिं नमस्कारं कुर्वे केनापि हेतुना ॥ २७८ ॥

अर्थ—इस प्रकार तापसी के वचनों को सुनकर सेठ कहने लगा कि मैं श्रेष्ठ श्रावक हूं। इसलिये रागी द्वेषी अन्य लिंगिनि को नमस्कार नहीं करूंगा।

"पंचमहव्वयजुत्तो तिहि गुत्ती हिजो स संजदो होदि।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जोय ॥ २० ॥"

अर्थ—जो आत्मा पंच महाव्रत करि युक्त तीन गुप्ति करि संयुक्त होय सो संयत (मुनि) संयमवान् है। सोही निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग है, वही स्तवन करने योग्य तथा वंदना करने योग्य है। और कोई वंदवे (स्तवन करने) योग्य नहीं है।

अवसेसं जेलिंगी दंसणणाणेण सम्म संजुत्ता।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय ॥ १३ ॥ [सूत्र पाहुड]

अर्थ—जे दिगम्बर मुद्रा सिवाय अवशेष लिंग जो उत्कृष्ट श्रावक का तथा आर्यिका सम्यक् दर्शन ज्ञान करि सहित है सोभी इच्छाकार करने योग्य है, न कि मुनि के तुल्य नमोऽस्तुयोग्य। हालांकि जिन मत में तीन लिंग मानने योग्य हैं। तब अन्य लिंग भेष धारी व कषाय युक्त प्राणी जिन मत में पूजने योग्य व वंदना करने योग्य कैसे हो सकते हैं? कदापि काल में भी नहीं हो सक्ता। याते यह क्षेत्रपाल पद्मावती वगैरह पूजन करने योग्य या वंदना करने योग्य नहीं हो सके।

ग्रन्थों में आचार्यों ने जितने भी दृष्टान्त दिये हैं उन सब में देवों की तरफ से मनुष्यों की सेवा की गई है न कि मनुष्यों की तरफ से देवों की। परन्तु भट्टारक लोगों ने इन देवों को पूजने योग्य बना दिया, यह आश्चर्य है। इसके सम्बन्ध में कितने ग्रंथों का प्रमाण दिया जावे। सभी जगह भगवान् सर्वज्ञदेव की पूजा भक्ति से ही सब कुछ होजाना लिखा है। विश्वास एवं विचार की आवश्यकता है। सीताजी को रामचन्द्र ने परीक्षा के वास्ते अग्नि कुण्ड में प्रवेश कराया, किन्तु उस स्त्री के पुण्य के उदय से देवों ने स्वयं आनकर सहायता की।

और भी कहा है—

"आखण्डलस्ततोऽवोचदहं सकलभूषणं
त्वरितुं वंदितुं यामि कर्तव्यं त्वमिहाश्रय ॥ १२६ ॥ [पद्म पुराण]

अर्थ—तब इन्द्र ने आज्ञाकरी हेमेपकेतु ! मैं तो सकल भूपण के उपसर्ग के दूर करने को जाता हूँ और तू महा सती के उपसर्ग को जाकर दूर कर।

जब प्रद्युम्न कुमार को पूर्व पुण्योदय से सोलह लाभ प्राप्त हुवे तब वहां पर कई देवों ने उनको आभूषण और दागीने दिये, एवं कन्या लाकर दी। यदि देव मनुष्य की सेवा न करते तो ऐसे पदार्थ क्यों लाकर देते।

इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य के पूर्व पुण्य के उदय से स्वयं देव सेवा करते हैं।

देवों की सेवा मनुष्यों को नहीं करनी चाहिये। वीतरागदेव को छोड़कर अन्य देवों की पूजा करना मिथ्यात्व है।

मुनि विष्णुकुमार का उदाहरण

मुनि विष्णु कुमार की कथा आराधना कथाकोष में इस प्रकार है—

शिष्यास्तेऽत्र प्रशस्यन्ते ये कुर्वन्ति गुरोर्वचः।
प्रीतितो विनयोपेता भवन्त्यन्ये कुपुत्रवत्॥ ११ ॥

अर्थ—शिष्य वे ही प्रशंसा के पात्र हैं, जो विनय और प्रेम के साथ अपने गुरु की आज्ञा का पालन करें, इसके विपरीत कुशिष्य कहलाते हैं।

जब अकम्पनाचार्य का संघ हस्तनागपुर में आया तब बलि आदि चारों राज मंत्रियों ने रागद्वेष वश उनपर उपसर्ग करना चाहा। उस समय जैन धर्म के शासन देव कहलाने वाले उपसर्ग दूर करने के समय कहाँ चलेगये थे। आकर सहायता क्यों नहीं की ? उस समय मुनि विष्णु कुमार वैक्रियिक ऋद्धिधारीने आकर सहायता की थी।

अहो पुण्येन तीव्राग्निर्जलत्वं याति भूतले।
समुद्रः स्थलतामेति दुर्विषं च सुधायते ॥ २१ ॥
शत्रुर्मित्रत्वमाप्नोति विपत्तिः सम्पदायते।

तस्मात्सुखैषिणो भव्याः पुण्यं कुर्वन्तु निर्मलं ॥ २२ ॥ [वारिषेण मुनिकथाकोष]

अर्थ—पुण्य के उदय से अग्नि, जल बनजाता है, समुद्र स्थल होजाता है, विष अमृत होजाता है, शत्रु मित्र बनजाता है और विपत्ति सम्पत्ति रूप परिणत हो जाती है। इसलिये जो लोग सुख चाहते हैं उन्हें पवित्र आचरण (कार्य) द्वारा पुण्य को संपादन करना चाहिये जिससे स्वर्ग से आकर स्वयं देव सेवा करें।

यमपाल चाण्डाल का उदाहरण

इस ही कथाक प में यमपाल नामा चांडाल की कथा है। धर्म चंदनामा एक सेठ पुत्र राजा के मैंढ़ा को अष्टाह्निका में मारकर खागया। उसको राजाने सूलिकी आज्ञादी। तब जल्लाद यमपाल को बुलाया। यमपाल चांडाल बोला कि मेरे आज चतुर्दशी का दिन है मैं आज हिंसा नहीं कर सक्ता, कारण मैंने मुनि के पास व्रत लिया है। यह बात सुनते ही राजाज्ञा हुई कि इन दोनों को मगर मच्छ से भरे हुये तालाब में डाल दिया जाय। धर्मचंद को तो मगर खागया, परन्तु चांडाल को उस अहिंसा व्रत के फल से नहीं खाया, वहां आकर देवों ने उस चांडाल के वास्ते सिंहासन बनाकर सेवा की और राजा तथा प्रजाने भी आकर उस की खूब भक्ति से पूजा की। इससे स्पष्ट है कि चांडाल के पास धर्म था तो देवों ने रक्षा की और उस सेठ के पास धर्म नहीं था तो उसको मगर मच्छ खागये। अतः धर्म के प्रसाद से देव सेवा करते हैं न कि विनाधर्म से। और भी कहा है कि—

"व्यसनेन युतो जीवः सत्यं पापपरो भवेत्।
यस्य धर्मे सुविश्वासः क्वापि भीतिं न याति स ॥ २२ ॥

व्यसनी पुरुष नियम से पाप में सदा तत्पर रहता है। जिसका धर्म पर दृढ़ विश्वास है उसे कहीं भी भय नहीं होता ॥

श्री अभिनन्दन मुनिका उदाहरण

कुंभकारकट शहर के राजा दण्डक ने मंत्री के मायाचार पूर्वक दृश्य दिखाने से जब स तसौ मुनियों सहित आचार्य को घाणी में पिलवा दिया था, तब शासन देवता कहां चले गये थे, क्यों नहीं सहायता की ?

अतः कहना पड़ेगा कि सब से बडा पुण्य है और कोई ऐसी शक्ति नहीं जो पुण्य के सामने आवे। और जब पुण्य हट जाता है तब पापरू [illegible]री शीघ्रातिशीघ्र आकर दबा देता है। इससे यह तात्पर्य रहा कि देवता लोग पुण्यवान के चाकर हैं। बिना पुण्य के संसार में किसी

का कोई नहीं। पुण्य ही सब कुछ है। देव कोई चीज नहीं। पुण्य ही की सेवा करो, देव तुम्हारे गुलाम बनजावेंगे। ऐसे दृष्टान्तों से जैन साहित्य भरापड़ा है।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का उदाहरण

कांपिल्य नगर में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती राजा राज्य करता था। किसी कारण से उसने अपने रसोईया को मारदिया। वह मरकर व्यन्तर देव हुआ। उसने उससे वैरका बदला लेना चाहा। उसने एक संन्यासी के रूप में बहुत से मिष्ट फलों की भेंट लाकर राजा को दी। राजा उन मिष्ट फलों से बहुत प्रसन्न हुआ। और कहा हमको ऐसे फल और चाहिये। उस संन्यासी ने राजा को फलों का लोभ दे अपने साथ लेगया। फिर क्या था। जब तक राजा को जैन धर्म का श्रद्धान रहा, तब तक वह देव उसका कुछ बिगाड नहीं कर सका। आखिर प्रत्यक्ष होकर उस देवने उनको सब कथा समझाई और कहा कि तुम अपने महल में तभी वापस जा सकते हो जब जैन धर्म को झूंठा कहो और णमोकार मंत्र पर अपना पैर रक्खो। राजाने प्राणों के मोहसे ऐसा किया। तुरत देवने उसे मार डाला। कहने का तात्पर्य केवल इतनाही है कि सच्चा श्रद्धान रखना आवश्यक है। पुण्य और पाप ही शुभाशुभ फलों का दाता है। कोई देव कुछ नहीं बिगाड सकते। जो कुछ होता है–हमारे शुभाशुभ भाव और कर्मों से होता है। अतः व्यन्तरादिक पूज्य नहीं है। मिथ्यादृष्टि का सब प्रकार का संसर्ग त्याज्य है। कहा है—

मिथ्यादृष्टेः श्रुतं शास्त्रं कुमार्गाय प्रवर्तते।
यथामृष्टं भवेत्कृष्टं सुदुग्धं तुम्बिकागतम् ॥ १ ॥

अर्थ—अज्ञानी पुरुष मिथ्यात्व के वश होकर कौन बुरा काम नहीं करते। मिथ्यादृष्टियों का ज्ञान और चारित्र मोक्ष का कारण नहीं होता–जैसे सूर्य के उदय से उल्लू को कभी सुख नहीं होता। मिथ्यादृष्टियों का शास्त्र सुनना, शास्त्राभ्यास करना केवल कुमार्ग में प्रवृत्त होने का कारण है। जैसे मीठा दुग्ध भी तूमड़ी के सम्बन्ध से कडवा हो जाता है। अतः सच्चे मार्ग को ही अपनाना चाहिए। कहा है—

"ये कृत्वा पातकं पापाः पोषयंति स्वकं भुवि।
त्यक्त्वान्यायक्रमं तेषां महादुःखं भवार्णवे ॥"

अर्थ—जो पापी लोग न्याय मार्ग को छोड़कर, पाप के द्वारा अपना निर्वाह करते हैं वे संसार समुद्र में अनंत काल तक दुःख भोगते हैं। अत: न्याय मार्ग नहीं छोड़ना चाहिए।

जो कुछ होता है-वह पुण्य और पाप के उदय से होता है किसी के किये से नहीं। वीतरागभक्ति, दान, परोपकार, सेवा, त्याग आदि गुणों से पुण्य की वृद्धि होती है, और उसका फल अच्छा मिलता है। अतः इन्हीं कार्यों में मनुष्य को अपना समय लगाना चाहिए। पुण्य की महिमा अपरंपार है।

तीर्थंकर प्रकृति पुण्य की सर्वोत्कृष्ट प्रकृति है। उसके प्रभाव से तीर्थंकर के गर्भ में आने से भी पूर्व छै माह से देवता उनके माता पिता की तथा उनकी सेवा करते हैं। तीर्थंकर के पांचों कल्याणों में ये आते हैं।

चक्रवर्ती नारायण वासुदेवों की उनके पुण्यानुसार देवता सेवा करते रहते है। एक देवता की तो क्या बात, पुण्योदय से मनुष्य की अनेक देवों ने पूजा की है एवं करते हैं।

पुण्य की प्राप्ति दान देने से अर्हन्त वीतरागभगवान की पूजा से एवं सुगुरुओं की सेवा से होती है। कुदेवों की पूजा से एवं वीतरागता से दूर शासन देवों की पूजा से, नहीं हो सकती, प्रत्युतः मिथ्यात्व की वृद्धि करके पाप की वृद्धि होती है। अतः विचार पूर्वक शासन देवों की पूजा मिथ्यात्व समझ कर छोड़ना चाहिए। निर्दोष निर्ग्रन्थ अरहंत सर्वज्ञ का पूजन ही कल्याणकारी है।

सर्वत्र माङ्गलिक कार्यों में जिनेद्र देव ही पूजनीय है। इसकी पुष्टि निम्न लिखित सिद्धान्तसार के विदेह क्षेत्र के वर्णन में आये हुए पद्य द्वारा होती है—

"विवाहजातकर्मादौ मंगलेष्वखिलेषु च।
परमेष्ठिन एवार्हो न क्षेत्रपालकादयः ॥ १ ॥"

अर्थ—विवाह आदिक माङ्गलिक जितने भी कार्य हैं उन सब में पंच परमेष्ठि पूजन का ही विधान है, क्षेत्रपाल आदि देवों का विधान नहीं है।

तात्पर्य यह है कि श्री जिनेन्द्र देव के अतिरिक्त अन्य देव का विवाह जातिकर्म आदि कार्यों में पूजन करने से संसार की वृद्धि होती है और जैन मार्ग प्रवृत्ति मार्ग में प्रवर्तन कराते हुए निवृत्ति प्रधान है, अतः संसार से निवृत्ति के कारणभूत जिनेन्द्र देव का ही पूजन करना समुचित एवं सर्वथा मंगल रूप बड़े भारी पुण्य बंध का कारण है।

यह प्रकरण अतिथि संविभाग नामक शिक्षाव्रत का है। इसमें अतिथि संविभाग व्रत का किंचित् स्वरूप ऊपर बताया है और

विशेष अब वर्णन किया जायगा। प्रथम ही अतिथि शब्द की व्याख्या बताते हैं।

अतिथि शब्द का अर्थ

"तिथिपर्वोत्सवाः सर्वेत्यक्ता येन महात्मना।
अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः ॥ [सागारधर्म्मामृत]

अर्थात्—"न तिथिर्यस्य स. अतिथिः" जिस साधु एवं मुनि के एकम, दोयज, पूर्णिमा अष्टाह्निका, षोड़शकारण, दशलक्षण आदि में कोई विशेष विचार नहीं होता, सर्वदा आत्मध्यान में ही लीनता रखते हैं सिद्ध चक्र विधान, वेदी प्रतिष्ठा आदि विशेष कार्य भी जिनके लिये समान हैं, केवल स्वाध्याय अर्थात् स्व—आत्मा का अध्याय चन्तवन मात्र प्रयोजन है, वे मुनि अतिथि हैं और शेष अभ्यागत शब्द से कहे जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि अतिथियों को लौकिक कार्यों से कोई प्रयोजन नहीं रहता। वे आत्मध्यानरत ही रहते हैं। उनको जो भोजन दिया जावे वह शुद्ध मर्यादित अपने कुटुम्ब के लिये बनाया गया हो उसमें से ही दिया जावे। इसी का नाम अतिथिसंविभागव्रत है। मुनि के भोजन के लिये खास तौर पर आरंभ नहीं करना चाहिये।

मुनि को आहार दान करने से गृहस्थ को जो आरंभिक हिंसा लगती है उससे उत्पन्न पाप का विनाश होता है अर्थात् मुनि के आहार दान के प्रभाव से आरंभिक हिंसा जन्य पाप का विनाश हो जाता है।

गृहस्थ के लिए आरंभिक हिंसा

"खंडिनी पेषिणी चुल्ली उदककुम्भः प्रमार्जिनी।
पंच सूनाः गृहस्थस्य तेन मोक्षे न गच्छति ॥ १ ॥"

अर्थ—ऊखल १. चूल्हा २. चक्की ३. परेंडा ४. और बुहारी ५. ये पांच गृहस्थ के सूना कहलाते हैं। अर्थात् इनके द्वारा गृहस्थ को आरंभिक हिंसा होती है इसी कारण गृहस्थी मोक्ष में नहीं जाता है।

३ महाराज कौनसा शास्त्र पढते हैं अथवा इनके पास शास्त्र है या नहीं ? एवं शास्त्र को साधु बदलना चाहते हैं या जीर्ण शीर्ण है तो क्यानया लेना चाहते हैं ?

४ साधुओं का ठहरने का स्थान समुचित है या नहीं ?

५ यथायोग्य रोग की परीक्षा करना।

६ समयानुसार—परीक्षा कर आहार दान देना।

७ जहां पर व्रती पुरुष हों वहां पर चटाई आदि की समुचित व्यवस्था करना।

इसके अतिरिक्त आर्यिका के लिये साड़ी, ऐलक क्षुल्लक ब्रह्मचारियों के लिये यथा योग्य वस्त्र पुस्तक कमण्डल चटाई आदि की व्यवस्था करना।

इन सब प्रकार की व्यवस्था गृहस्थों को पहले ही करनी चाहिये।

श्रावकों को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जब साधुओं के भोजन का समय हो उस समय पर अपने घर में तिर्यञ्च होवे तो उनको ऐसे स्थान पर रखे जिससे वे साधुओं को किसी प्रकार का उपद्रव न करें। यदि वे खुले रहेंगे तो इधर उधर दौड़ लगावेंगे तो उनके खुरों से जीव हिंसा होगी। यह समझ कर ही संयमी लोग वहां से निकल कर चले जावेंगे। क्योंकि वे पूर्ण रूप से दया के पालन करने वाले हैं।

आंगन में उस समय गीला नहीं होना चाहिये तथा हरित कायकी घास या पत्ते बिखरे हुए नहीं होने चाहिये। और चौके में गोवर से लीपना तथा छानों से रोटी नहीं बनाना चाहिये। गोवर अशुद्ध है।

शंका—पं० सदासुखदासजी काशलीवाल ने गोबर को अष्ट प्रकार की शुद्धियों में वर्णित किया है। और भी ग्रन्थों में गोवर काम में लेना लिखा है। आप क्यों अशुद्ध बताकर इसका निषेध करते हैं ?

उत्तर—गोवर की शुद्धि लौकिक से कहीं पर मानी है, किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से वह शुद्ध नहीं है। शास्त्रों में तो यहां तक लिखा है कि जहां पर गोवर पड़ा हो वहां पर भोजन भी नहीं करना चाहिये।

आयुर्वेद में पृथ्वी को गोवर से लीपने की इस कारण पुष्टि की है कि गोबर के खार से एक वितस्ति (विलसा) प्रमाण पृथ्वी

के नीचे तक अशुद्ध कीटाणु मर जाते हैं एवं लीपे हुए के ऊपर चलने वाले प्राणी रोग से ग्रसित नहीं होते। अतः यह लौकिक शुद्धि है। सो ही पं० सदासुखदासजी ने भी लौकिक की अपेक्षा इसकी शुद्धि बतलाई है। पं० जी का यह बतलाना कथञ्चित् ठीक है क्योंकि लौकिक शुद्धि से भी व्यवहार चलता है।

किन्तु यहां लौकिक शुद्धि का प्रकरण नहीं है। यहां पर शुद्ध भोजन का प्रकरण है। यह इससे भिन्न है।

व्यवहार में गोबर शुद्ध मानने पर भी चौके के लिये अशुद्ध है। गोबर जहां पर पड़ा हो वहां पर भोजन भी नहीं करना चाहिये। त्रिवर्णाचार के छठे अध्याय के १८७ वें श्लोक में भी गोबर अशुद्ध बतलाया है—

नखगोमयभस्मादिमिश्रितान्नं च दर्शिते ॥ १८७ ॥

अतिथि संविभाग व्रत के पांच अतिचार

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥ ३६—७ ॥ [त. सू.]

हरितपिधाननिधाने, ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि ।
वैयावृत्यस्यैते, व्यतिक्रमा पञ्च कथ्यन्ते ॥ १२१ ॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

अर्थ—१ सचित्त निक्षेप २ सचित्तपिधान ३ परव्यपदेश ४ मात्सर्य ५ कालातिक्रम, यह, भगवान उमास्वामी, तथा समंत भद्र के वचनानुसार अतिथिसंविभाग के पांच अतिचार हैं। इनका पृथक् पृथक् खुलासा इस प्रकार हैं—

१ सचित्त निक्षेप—सचित्त कहिये चेतना सहित जो वस्तु हो उस वस्तु से सम्पर्क मिलाना अतिचार है। जैसे पेड़ से तोड़े हुए पत्र कमलादिक के पत्र सचित्त हैं, तथा जब कि गीलेपन का सम्पर्क है, पृथ्वी (गिली मिट्टी) धान्य आदि तथा खरबूजा ककड़ी, नारंगी, केले, आम, सेव, आदि के चाकू से गट्टे तो बना लिये हों परन्तु उनमें कोई तिक्त द्रव्य नहीं मिलाया हो और न उनको गर्म किया हो ऐसे पदार्थ सचित्त हैं। उनको त्यागी लोग नहीं ले सकते। दाता देवे, तब त्यागी को चाहिये कि पूरी जांच करके लेवे। पदार्थों के गट्टे या नीबू के दोफले करने से ही अचित्तपना नहीं आ सकता, क्योंकि वनस्पति के शरीर की अवगाहना आचार्यों ने अंगुल के असंख्यातवें भाग मानी है, और वह जो गट्टा किये हैं, बादाम के बराबर बड़े हैं जो कि विना अग्नि पर चढ़ाये या यन्त्रसे पेले विना अचित्त नहीं हो सकते। जैसे—सांठे का रस निकाले या पत्थर से चटनी बांटे, ऐसे किये विना जो लेता है या देता है वह अतिचार माना है।

२ सचित्तपिधान—आहार में किसी प्रकार की सचित्त वस्तु का सम्बन्ध मिलाना, जैसे गीले, सचित्त फल पुष्प आदि का संयोग या ऐसे पदार्थों से भोजन का ढकना, सचित्तपिधान अतिचार माना है। ऊपर लिखे पदार्थ आहार में देने योग्य नहीं।

३ परव्यपदेश—अपने गुड़ शक्कर आदि पदार्थों को किसी अन्य का बताकर देदेना, अथवा दूसरे के मकान पर जाकर उसकी इजाजत के बिना कोई वस्तु निकाल लाकर आहार में देदेना यह परव्यपदेश नामका अतिचार है। क्योंकि बिना आज्ञा दूसरा दूसरे पदार्थों को दे ही नहीं सकता और यह देरहा है सो अतिचार है।

४ मत्सर—मुनियों के पड़गाहने आदि में क्रोध करना, आये हुवे मुनि को आहार नहीं देना या देते हुए भी यथायोग्य आदर सत्कार नहीं करना अथवा अन्य दातारों के गुणों का सहन नहीं करना। जैसे— इस श्रावक ने मुनिराज को दान देदिया तो क्या मैं इससे कुछ हीन हूँ, क्या मैं ऐसा नहीं कर सकता हूँ। इस प्रकार अन्य दातारों से ईर्ष्याभाव करने को मत्सर भाव कहते हैं। दूसरों से द्वेष भाव रखकर अन्य की उन्नति से द्वेष करके दान देना सो भी मत्सर भाव है। हां जो दूसरों से बढ़कर दान देता है और सोचता है ऐसा अवसर मिलना कठिन है जो कुछ करना है करलूं। ऐसे भावों से महान् पुण्य होता है। मत्सर शब्द के कई अर्थ हुवा करते हैं, जो हारने योग्य है—मत्सरः परसंपत्त्यक्षमायां तद्वति क्रोधः अर्थात् दूसरों की संपदा को देखकर सहन नहीं करना, तथा उसपर क्रोध करना इत्यादि मत्सर भाव है।

कालातिक्रम—साधु के योग्य भिक्षा के समय को उलंघन करना कालातिक्रम है। जो अनुचित समय में मुनियों को भोजन देने खड़ा होता है। मुनियों के भोजन के समय के पहिले भोजन करने वाला श्रावक इस दोष का भागी है। ये पांचों ही अतिचार यदि अज्ञान से या प्रमाद से होवें तो अतिचार हैं। जान बूझकर करे तो अनाचार हो जाता है। इसलिये ऐसे भावों से सर्वथा बचना चाहिये। इस प्रकार अतिथि संविभाग के अतिचारों को टालकर दान देना गृहस्थों का कर्तव्य है।

यहां तक दूसरी प्रतिमा अर्थात् बारह व्रतों का वर्णन हुवा। इन व्रतों के पालने वाले के और भी विशेष नियम होते हैं उनको बताते हैं –

व्रतों के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य

हिंसा द्वेधा प्रोक्ताऽऽरंभानारंभभेदतो दक्षैः।
गृहवासतो निवृत्तो, द्वेधाऽपि त्रायते तां च ॥ १ ॥

ग्रहवाससेवनरतो, मंदकषायः प्रवर्तितारंभः ।
आरंभजां स हिंसां, शक्नोति न रक्षितुं नियतम् ॥ २ ॥

अर्थ—हिंसा दो तरह की होती है, एक तो खेती आदि कार्यों से होने वाली हिंसा जिसे आरंभी कहते हैं। दूसरी वस्तुओं के रखने उठाने आदि में होती है, उसे अनारंभी हिंसा कहते हैं। जिस पुरुष की कषाय मन्द होगई है वह संतोषी गृह त्यागी दोनों प्रकार की हिंसा का त्यागी होजाता है। पर घर में रहने वाला व्रती श्रावक दोनों प्रकार की हिंसा का पूर्ण रूप से त्याग नहीं कर सकता। क्योंकि उसकी कषाय मन्द नहीं हुई है। इसलिये व्रती दो तरह के हुए १ गृहवासी २ गृहत्याग'। उक्त द्वादश व्रतों को मनुष्य तथा तिर्यंच, सब अपनी २ योग्यतानुसार पाल सकते हैं, इसमें किसी को कोई बाधा नहीं।

निरतिचार पंचाणुव्रत, सातिचार सप्त शीलव्रत चाण्डाल भी पाल सकता है, ऐसे अनेक शास्त्रों में दृष्टान्त मिलते हैं।

गृहवासी तथा गृहत्यागी, ये भेद द्वितीय प्रतिमा से लेकर नवमी प्रतिमा तक माने गये हैं। इसके आगे गृह त्यागी ही होते हैं, इसका विशेष खुलासा अनुमति त्याग प्रतिमा मे करेंगे, वहां से जानना।

घर निवासी और त्यागी व्रतियों के बाह्याचरण और वेष में फर्क रहता है। उनसे उनकी पहिचान हो सकती है। इन व्रतों के ग्रहण करने से मनुष्य पर्याय सफल और सुशोभित होती है। इन व्रतों को धारण करने से पहिले ज्ञान का अभ्यास करना चाहिये।

जो विनज्ञान क्रिया अवगाहे, जे विन क्रिया मोक्ष पद चाहैं।
जे विन मोक्ष कहैं मैं सुखिया, सो नर अजान मूढनमें मुखिया॥

भावार्थ—जो भव्य पुरुष अपने आत्मा को इस संसार रूपी समुद्र से निकालना चाहते हैं, उनका कर्तव्य है कि भगवान् के उप देशे हुए सम्यग्ज्ञान का अभ्यास करें, निजात्मा को ज्ञान सम्पन्न प्रौढ़ बनावें जिससे फिर पतित न होवें।

धर्मात्मा को चाहिये कि उन्हें जो व्रत लेना हो उसे पहिले अच्छी तरह समझ लें। तथा देने वाले को भी चाहिये कि उनका स्वरूप पहिले ठीक २ समझा देवे। लेने वाले के चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, उसकी संहनन शक्ति, कुल, योग्यता आदि सब की अच्छी तरह जांच कर फिर व्रत देवे, ताकि उसे दूषण लगाने का अवसर न आवे। उद्वेग में व्रत नहीं देवे। क्योंकि उद्वेग में व्रत देदिये जायंगे, तो व्रत लेने वाला उनको छोड़ देगा। तब जिन मार्ग की हंसी होगी, सो उचित नहीं। इसलिये पहिले ही खूब सोच समझ कर कर्तव्य करना योग्य है। गृहत्यागी ब्रह्मचारी

है। कपड़े कम कीमती शुद्ध सफेद और साधारण पहिनें। शिर के केशों को बिलकुल घोट मोट करावे, मूछों के बाल मुखपर छोटे २ राखे, घुटवावें नहीं। आरंभ परिग्रह की लालसा को बहुत कम करदेवे। बिछाने के वास्ते एक चटाई रक्खे। ओढने के वास्ते १ दोहरा। रूई के भरे बिस्तर ओढने या बिछाने के वास्ते बिलकुल न रक्खे। अपने पास इतना ही परिग्रह रक्खे जिसे स्वयं उठाकर दूसरे गांव को विहार कर सके।

उदासीन ब्रह्मचारियों को हमेशा खयाल रखना चाहिये कि भूलकर भी, स्वप्न मे भी रुपया पैसा नहीं लेना न अपने पास रखना। हमेशा पैदल चलना। मोटर, रेल, तांगा, बग्घी, ऊँट, घोडा, बैल, आदि की सवारी मात्र पर नहीं बैठना. जिससे याचना न करनी पड़े। जो याचना नहीं करता उससे लोग प्रीति पूर्वक धर्म सेवन करते हैं। पैसा मांगने वालों से यहां तक कहने लगजाते हैं कि—यह महात्मा लोभीदास है हम इससे मिलना नहीं चाहते, क्योंकि यह त्यागी नहीं है, यह तो ठग है, पापी मायाचारी है, इत्यादि। कहा है—

अयाचीक जिनधर्म है, धर्मी जाचे नाहिं।
धर्मी वण जाचणलगे, सो ठगिया जगमांहि ॥

यह भी ध्यान रहे कि शास्त्रों का लेख है कि व्रती अकेला विहारी न रहे। क्योंकि अकेला रहने वाला अपनी मरजी आवे सोही करे, साथी होवे तो उसके डरसे, खोटा कार्य न करे तब पाप से बचे और पुण्य का संचय करे। इसलिये व्रती को कभी अकेला नहीं विहार करना।

उदासीन, त्यागियों को चाहिये कि हमेशा दिन में एकबार भोजन करे, दुबारा भूल कर न करे। यदि एक बार के भोजन में अन्तराय भी होगया हो तो भी दुबारा भोजन अथवा मेवा फलादि का साधन भी नहीं मिलाना चाहिये, तथा न अन्य कोई सामान रखना चाहिये। क्योंकि यह व्रत काय और कषाय को कृश करने के वास्ते लिया है न कि पेट भरने के लिये। ऐसा ध्यान रखना चाहिये। कहा है—

काय पायकर तप नहीं कीनों, आगम पढ नहीं मिटी कषाय।
धन को पाय दान नहीं दीनों, कीनों कहा जगत में आय ॥
तीनों जन्म मरण के खातिर, रत्न हाथ से दियो गमाय।
चार बात यह मिलन कठिन है, शास्त्र, ज्ञान, धन, नरपर्याय ॥ १ ॥

यह मनुष्य पर्याय महा दुर्लभ से भी दुर्लभ है। इसको पाकर जिनराज का मार्ग पाना और भी महा दुर्लभ है। कषायों दमन कर इस

मार्ग की प्रभावना करो, जिससे संसार भरके व्रती तुमको देखकर चारित्र की उन्नति में प्रवृत्त हो जावें। यदि आपको तीर्थ क्षेत्रों की वंदना के लिये जाना है तो भी पैदल ही यात्रा करना चाहिये। पैदल चलने में शरीर की तथा व्रत की स्वतन्त्रता व दृढ़ता पूर्वक रक्षा होती है, परतन्त्रता छूट जाती है। पैदल यात्रा से इतना और लाभ होता है कि जगह जगह के श्रावकों को व्रतियों के आचरण और भोजन शुद्धि की विधि का परिज्ञान हो जाता है, जिससे जीवों की बड़ी दया पलती है। शास्त्रों की यही आज्ञा है कि व्यवहार सम्यग्दृष्टि जीवों की दया पाले और अपनी आत्मा का कल्याण करे। यही व्रतियों का लक्षण है। व्रतियों की, याचना का भाव समझकर गृहस्थ लोग उनका यथोचित आदर भाव करना भी छोड़ देते हैं। फिर भी कुछ लोग नहीं समझते। मानों मांगने के लिये ही उन्होंने जन्म लिया है। उन लोगों से गृहस्थ लोग यहां तक भी कहडालते हैं। कि महाराज हम हमारे गृह कुटुम्ब का पालन पोषण करें, या तुम्हारा भार उठावें, कहीं और जगह अपना कार्य देखो। इस प्रकार तिरस्कृत होकर भी जो मांगना नहीं छोड़ते या तीर्थ वन्दना के बहाने रुपया मांगते हैं, इससे ज्यादा क्या पतन होगा, बड़े खेद की बात है। इसलिये व्रती का वेष लेने वालों को आत्म सम्मान, और आत्म सुधार का तथा धर्म और समाज की सेवा का निरन्तर ध्यान रखना चाहिये।

यदि भोजन के समय अन्तराय हो गया हो, तथा शरीर में शक्ति कम होने से क्षुधा न सही जावे, तो दुवारा भोजन के वास्ते उसी गृहस्थ से कहकर पुनः भोजन करले। क्योंकि उस गृहस्थ को मालुम है कि आज प्रातः अन्तराय होने से ये अभीतक बुभुक्षित हैं, इसलिये इनको भोजन करना उचित है। अगर दूसरे के यहाँ भोजन को जायगा तो गृहस्थ लोग समझेंगे कि ये कैसे व्रती हैं, दिनभर भोजन ही करते फिरते हैं, इस तरह समझ कर व्रतियों पर से अपनी श्रद्धा उठालेते हैं, जिससे धर्म का ह्रास होता है। इसलिये ब्रह्मचारी आदि व्रतियों को बहुत समझकर अपनी चर्या करनी चाहिये। अपनी प्रवृत्ति अपने वश में रखनी चाहिये, परतन्त्र न होने देवे। साथ ही द्रव्य क्षेत्र काल भाव को देखकर अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार बाह्य तप भी करते रहना चाहिये, जिससे अपनी शक्ति की परीक्षा तथा वृद्धि होती रहे, संसार तथा शरीर से वैराग्य होता रहे। अनशनादि तप तथा रस परित्याग का अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिये।

खीरदहिसप्पितेलगुडलवणाणं च जं परिच्चयणं।
तित्तकटुकसायविमलं, मधुररसाणं च जं चयणं ॥ ३५२ ॥ [मूलाचार]

अर्थ—खीर (दूध), दही, घी तेल, गुड़, लवण, इनको आदि लेकर छह रसों में एक दो या सबका यथाशक्ति प्रति दिन त्याग करना चाहिये। यद्यपि तिक्त, कटु, कषाय, मधुर, विमल, ये पांच ही रस होते हैं, किन्तु भोजन के स्वाद की अपेक्षा इन से ऊपर कहे छः रसों का ही यथाशक्ति नियम करना। जिस दिन जिस रस पर विशेष रुचि हो उसी रस को उस दिन छोड़ना चाहिये। ऐसा नहीं है कि शनिवार को ही तेल छोड़ना, ऐतवार को नमक, सोमवार को हरी, इत्यादि क्रम तो भट्टारकों का चलाया हुआ है, सिद्धान्त नहीं है। इसके पालन से कोई विशेष

लाभ तो है नहीं फिर भी बिलकुल नहीं से तो कुछ भला ही है।

मुनि हो चाहे आर्यिका, ऐलक क्षुल्लक या ब्रह्मचारी हों, इनके खानपान की वस्तुओं की क्रिया पाक्षिक श्रावक की मर्यादा के अनुसार ही हुवा करती है, कोई अलग मर्यादा सिद्धान्त में इनके लिये नहीं बताई गई है। क्योंकि अगर अलग व्यवस्था हो तो उद्दिष्ट त्याग कैसे सधे। गृहस्थ लोग अपने लिये जो भोजन बनाते हैं उसी में से अतिथिसंविभाग करते हैं। यदि किसी पात्र का योग न मिले तो वे स्वयं आप ही अपना भोजन जीमते हैं।

गृहस्थ नीचे लिखे अनुसार भोजन के अन्तराय टाले—

गृहस्थ के टालने योग्य अंतराय

"मांसरक्तादिचर्मास्थं, पूयदर्शनवस्त्यजेत् ।
मृताङ्गी वीक्षणादन्नं, प्रत्यचाननुसेवनात् ॥ १ ॥
मातंगश्वपचादीनाम्, दर्शने तद्वचः श्रुतौ ।
भोजनं परिहर्तव्यं, मलमूत्रादिदर्शने ॥ २ ॥"

अर्थ—नीचे लिखे अन्तराय टालकर गृहस्थों को भोजन करना। १ मांस का देखना २ चार अंगुल प्रमाण रक्त की धारा देखना ३ गीला चमडा देखना ४ गीली हड्डी को देखना ५ खराब लोहू (राध पीब) का देखना ६ भोजन में या भोजन के बाहर मरे हुए त्रस जीवों का कलेवर देखना ७ अपनी त्यागी हुई वस्तु का भक्षण करलेना ८ चांडाल आदि का देखना या उनका वचन सुन लेना अथवा मल मूत्रादि अयोग्य पदार्थों का दिख जाना, इतने कारणों से अन्तराय मानकर भोजन को छोड देना चाहिये। अब इनका पृथक् पृथक् खुलासा करते हैं—अन्तराय चार तरह से होते हैं—१ कुछ पदार्थों के देखने से २ स्पर्श करने से ३ कुछ शब्द सुनने से ४ अपने मन में विकल्प होने से। जैसे पहला भेद देखने से यथा मांस मदिरा, गीला चमडा, हड्डी, चार अंगुल से ऊपर रक्त धारा जीवों की हिंसा, गीला पीप (राध) पंचेन्द्रिय का मृतक कलेवर, टट्टी मल, मूत्रादि इन वस्तुओं के देखने मात्र से भोजन में अन्तराय हो जाता है।

२ स्पर्श करने से यथा गीला चमडा, विष्टा मुर्दा, पंचेन्द्रिय मनुष्य या तिर्यंच) अव्रती पुरुष, मद्य मांस आदिका सेवन करने वाला,

रजस्वला स्त्री, भोजन में बाल रोमादि निकलना, पक्षियों के पंख आदि का भोजन में निकलना, नख आदि का निकलना नियम लेकर भन्न करने वाला, इत्यादि का स्पर्श हो जाने से भोजन में अन्तराय हो जाता है।

३ सुनने से यथा-मांस मदिरा हड्डी आदि के, तथा मारो मारो काटो काटो इत्यादि कठोर शब्द, अग्नि लगने आदि उपद्रवों की आवाज, रोना आदिका कारुण्य जनक शब्द, स्वचक्र परचक्र के आक्रमण का शब्द, धर्मात्मा पुरुष या स्त्री पर उपसर्ग होने का शब्द, मनुष्यों के मरने के समाचार, जिन धर्म, जिन बिम्ब, जिनवाणी, जैन साधुओं पर उपसर्ग या इन का अविनय के शब्द सुनाई पड़ने पर, किसी अपराधी को फांसी लगने का शब्द, तथा चांडाल आदि शब्द इत्यादि-बातों के सुनने मात्र से व्रती श्रावक के भोजन में अन्तराय उपस्थित होता है।

४ मन में विकल्प होने से यथा-भोजन करते समय ऐसा विचार आजावे कि अमुक पदार्थ मांस, विष्टा रुधिर या पीव के समान है, जिसमें ऐसी ग्लानि हो जावे, भोजन के समय मल मूत्र की बाधा हो जावे, भोजन में त्यागी हुई वस्तु की मर्यादा भूलकर भक्षण करलेना, भोज्य पदार्थ में ऐसी शंका होजाना कि यह मेरे लेने योग्य है वा नहीं, इत्यादि विकल्पों के मन में आजाने से भोजन में अन्तराय होता है। इसी प्रकार के और भी सब अन्तराय टालने योग्य है।

ये सब अन्तराय भोजन के प्रत्याख्यान किये पश्चात् माने गये हैं। सो ध्यान रहे।

जितने भी व्रतों का यहां तक विधान किया गया है उन सबको पुरुषार्थ सहित दृढ़ता से निर्वाह करना चाहिये। इनमें शिथिलता करने से कर्मास्रव होता है जिससे नरक निगोद आदि में जाना पड़ता है। पुण्य के उदय से यह जीव संसार में रहते हुए किंचित् सुख पाता है, सो ही दिखाते हैं।

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैः र्बत नारकं।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतो महान् ॥ ३ ॥ [इष्टोपदेश]

भावार्थ—अहिंसादि महाव्रत तो साक्षात् मोक्ष के दाता हैं ही, किन्तु जबतक, ऐसी शक्ति न हो तबतक यथाशक्ति व्रतों को पालकर स्वर्गादि के सुखों की छाया में बैठना, और हिंसादि पापों से जनित नरकादि गतियों के दुख रूपी आताप से बचकर समय निकालना चाहिये। क्योंकि वास्तविक सुख तो स्वर्ग में भी नहीं किन्तु मोक्ष में ही है। इसे दृष्टांत द्वारा यों समझना चाहिये—

तीन मित्र व्यापार के लिये विदेश को रवाना हुए। एक शहर की धर्मशाला में जाकर ठहरे। वहां के कार्य से निवृत्त होकर आगे चले।

तब एक को अपने चश्मा की याद आई। वह कहने लगा "मैं धर्मशाला से चश्मा लेकर आऊँ तबतक आप दोनों यहीं ठहरें" तब दोनों मित्रों में से एक तो वृक्ष की शीतल छाया में बैठ गया, दूसरा तप्तायमान धूप में घूम कर समय बिताने लगा। अब विचारिये, किसका समय बिताना सुख रूप है ? उत्तर मिलेगा छाया में बैठने वाले का। इसी प्रकार इस संसार के परिभ्रमण में भगवद्भाषित धर्म का आश्रय लेकर मोक्ष होने के पहिले स्वर्ग व उत्तम मनुष्य भव के सुखों की शीतल छाया में रहना, तथा अव्रत-पाप आदि के आचरण से होने वाले नरक तिर्यच गति के दुख रूप भवाताप से इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग से बचने के लिये श्रावक के व्रतों का पालन करना चाहिये, जिससे क्रम क्रम से आत्मा बलवान बने।

सम्यक्त्व व्रत के बिना, ससार में चक्रवर्त्ति की विभूति भी कुछ कार्यकारी नहीं है। देखो सुभूमि चक्रवर्ति क्षणभर में नरक चला गया। इसलिये दौलतरामजी ने छहढाला में कहा है—

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवे।
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावे॥
कोटि जन्म तप तपै, ज्ञान बिन कर्म झरैंजे।
ज्ञानी के क्षण में त्रिगुप्तितें सहज टरैं ते॥

भावार्थ—हे भव्य पुरुषो-धन दौलत, स्त्री, पुत्र, मित्र कुटुम्ब, परिवार, राजपाट हाथी, घोड़ा ये जीव के साथी नहीं, किन्तु संसार की वृद्धि के कारण हैं, शत्रु के समान हैं। यदि इनसे कुछ भला होता, या सुख होता तो तीर्थंकरादि महापुरुष अनुपम राज ऋद्धि को छोड़कर महामुनि का आचरण क्यों करते ? इन पदार्थों से किसी का न भला हुवा है, न होगा। ज्ञान रूपी धन से ही सर्व जीवों का भला हुवा है, होता है, तथा होगा। इसलिये ज्ञानाराधन करना ही व्रतियों का कर्तव्य है, इससे ही व्रतादि की शुद्धि होगी, सो ही दृष्टान्त से बताते हैं—

"यदन्नं भक्षयेन्नित्यं, जायते तादृशी च धीः।
दीपो भक्षयते ध्वान्तं, कज्जलं च प्रसूयते॥ १॥"

भावार्थ—यह प्राणी जैसा अन्न खायगा वैसी ही इसकी बुद्धि हो जायगी। जैसे-दीपक अन्धकार को खाता है तो फिर अन्धकार (कज्जल) को ही उगलता है। लोक मे यह कहावत भी प्रसिद्ध है कि—

जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।
जैसा पीवे पानी, वैसी बोले वाणी ॥

अर्थात्—व्रतों का शुद्ध रूप से पालन होता रहेगा तो ज्ञान भी स्फुरायमान होगा। इसलिये अपनी शक्ति को न छिपाकर निरन्तर निज कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये।

"अनंतशास्त्रं बहुलाश्च विद्या।
अल्पश्च कालो बहु विघ्नता च ॥
गत्सारभूतं तदुपासनीयं।
हंसो यथाक्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥"

अर्थ—हे भव्य पुरुषो! ज्ञान तो द्वादशांग रूप अपार, आयु थोड़ी है। उसमें भी अनेक विघ्न आते रहते हैं। इसलिये इस थोड़े समय का भी सदुपयोग करके जो सारभूत है, आत्मा के कल्याण का कारण है, उतना ज्ञान प्राप्त करना ही चाहिये। जैसे—हंस के सामने दो सेर दूध रक्खा जावे तो उसमें से अपने योग्य दूध दूध को ग्रहण करलेता है, शेप को छोड़ देता है। इसी तरह व्रती अपने कल्याण के मार्ग को खोजकर ग्रहण करता है, पापरूप पथ का परिहार करता है।

व्रतीको कब मौन रखना चाहिए:—

मौनं भोजनवेलायां, ज्ञानस्य विनयो भवेत्।
रक्षणं चाभिमानस्य, सुदिशन्ति मुनीश्वराः ॥
दहनं मूत्रणं स्नानं, पूजनं परमेष्ठिनाम्।
भोजनं सुरतं स्तोत्रं, कुर्यान्मौनसमायुतम् ॥

अर्थ—भोजन करते समय मौन रखने से ज्ञान का विनय होता है, भोजन की लम्पटता रूप से अभिमान की रक्षा होती है, ऐसा मुनीश्वरों ने कहा है। अग्नि दहन, मल मूत्र क्षेपण, स्नान के समय तथा पंच परमेष्ठियों की पूजन के समय, सामायिक स्तवन आदि आवश्यकों

के समय, भोजन के समय, भोग के समय गृहस्थों को मौन रखना चाहिये ।

प्रश्न—ऊपर बताये कार्यों में मौन रखना चाहिये सो ठीक है, किन्तु उस समय भगवत् स्मरण करना चाहिये या नहीं ।

उत्तर—

अपवित्रः पवित्रो वा, सुस्थितो दुस्थितोऽपि वा ।
ध्यायेत्पञ्चनमस्कारं, सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

भावार्थ—पवित्र हो, या अपवित्र, स्वस्थ हो या अस्वस्थ, कोई भी कैसी भी अवस्था में हो, यदि वह पञ्च नमस्कार रूप भगवान् के नाम मन्त्र का स्मरण करता है सो सर्व पापों से छूट जाता है। अनेक प्राणी इस मन्त्र के जाप से जन्म जन्मान्तरों के पापों से छूट गये, ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं—जैसे—

"अंजन चोर पातकी ढोर, जप्यो मन्त्र मन्त्रन शिरमोर ।
महाकुष्ट दंडक बहु जीव, जपत मंत्र हूवे शिवपीव ॥"

पञ्च नमस्कार मन्त्र का जाप हर हालत में किया जा सकता है। विपरीत कार्यों के लिये मौन बतलाया है। धर्म कार्य के लिये नहीं।

व्रती के सामान्य कर्तव्य

"वधादसत्याच्चौर्याच्च, कामाद्ग्रन्थान्निवर्तनम् ।
पञ्चकाणुव्रतं रात्र्यभुक्तिषष्ठमणुव्रतम् ॥"

अर्थ—त्रस जीवों की हिंसा का त्याग सो स्थूल अहिंसाणुव्रत है। स्थूल झूठ बोलने का त्याग सो सत्याणुव्रत है। पर द्रव्यापहरण रूप चोरी का त्याग सो अचौर्याणुव्रत है। पर स्त्री मात्र का त्याग तथा स्वदारा में संतोष सो ब्रह्मचर्याणुव्रत है। प्रमाण में रक्खे हुए परिग्रह के सिवाय अन्य समस्त पदार्थों का त्याग सो परिग्रह परिमाणाणुव्रत है। रात्रि में खाद्य स्वाद्य लेह्य पेय रूप चारों प्रकार के आहार का त्याग सो रात्रि भोजन त्याग नाम छठा अणुव्रत है। इस तरह कई आचार्यों का छह अणुव्रत रूप भी अभिप्राय है, सो स्वीकार योग्य है।

जो दूसरी प्रतिमा के बारह व्रत पालते हैं, वे स्वयं ऐसा कारण नहीं मिलावें, जिसमें प्रत्यक्ष देखते त्रस जीवों की अन्याय पूर्वक हिंसा करनी पडे। जैसे-राज करना, सेनापति, कोतवाल होना, हलवाईगीरी करना, वनकटी या कृषि करना, युद्ध करना, कराना, इत्यादि कार्य छोड़ देने योग्य है। हां, जिनके पहिली दर्शन प्रतिमा ही है, वे लोग ऊपर लिखे कार्यों को यथायोग्य न्याय पूर्वक कर सकते हैं, ऐसा भगवत् गुणभद्रका कथन है।

स्वायुराद्यष्टवर्षेभ्यः, सर्वेषां परतो भवेत् ।
उदिताष्टकषायाणां, तीर्थेशां देशसंयमः ॥ ३५—५३ ॥ [उत्तर पुराण]

अर्थ—अपनी आयु के आठ वर्ष बीतने के समय से भगवान् तीर्थंकर देव की गृहस्थ अवस्था में आचरण व्यवस्था अणुव्रती सरीखी होती है। परंतु अणुव्रत नहीं लेते, महाव्रत ही लेते हैं। क्योंकि चारित्र मोहनीय की प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धी की चार, अप्रत्याख्यानावरण की चार, इन आठ प्रकृतियों का अनुदय होने से भगवान् का आचरण देशव्रती सरीखा हो जाता है। परन्तु ये किसी के पास अणुव्रत लेते नहीं। क्योंकि ये महापुरुष जगत गुरु अवसर आने पर महाव्रत ही लेते हैं। अन्यथा अणुव्रती की हालत में राज काज करते हैं, छह खण्डों को जीतकर कोई २ चक्रवर्ती पना भी स्थापित करते हैं, अन्य राजाओं को वशवर्ती कर शासन करते हैं, उस समय उनके अप्रत्याख्यानावरण कषाय की सर्वघाती प्रकृति का तो सर्वथा अनुदय, तथा देशघाती प्रकृति का उदय होने से इस रूप प्रवृत्ति होती है। जैसे-मिथ्यात्व, अन्याय. अभक्ष्य भक्षण का तो पूर्ण रीति से अभाव होता है तथा पञ्चाणुव्रत रूप सातिचार प्रथम प्रतिमा की सी वृत्ति से न्याय रूप से जितने भी कार्य होते हैं उनको करते हैं, जैसे राजा होना सेनापति होना आदि।

ऊपर के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अणुव्रती न्याय रूप से राजा महाराजा इत्यादि सांसरिक पद व्यवहार कर सकता है राजा वही है जो न्याय पूर्वक स्वयं चलता हुआ दूसरों को न्याय के पथ पर चलाता है। भगवज्जिनसेन स्वामी ने आदि पुराण में कथन किया है कि—महाराज भरत पञ्चाणुव्रत धारी थे, तथा न्याय शासन की बागडोर भी अपने हाथ में रखते थे। उन्होंने छह खण्ड पृथ्वी को स्त्री की तरह पालन किया। छयानवें हजार महाबलवान राजा वश में थे। जिनमें बत्तीस हजार भूमि गोचरी, बत्तीस हजार म्लेच्छ, और बत्तीस हजार विद्याधर थे। जिनके छहों खंडों से आई हुई कन्यायें चक्रवर्ती की राणिया छयानवें हजार थी'। एक लक्ष कोटि हल थे। इतनी अपार सम्पदा होते हुए भी अणुव्रती हो सकते हैं, ऐसा सिद्धान्त का कथन है। हां इतनी बात अवश्य है, कि सप्त शीलों को धारण करने के लिये पञ्चाणुव्रत निरतिचार होने चाहिये, सो राज्य करते समय ये बात संभव नहीं होती, इसलिये राज्य को छोड़कर व्रतों का आदर करते हैं। ऐसे राज्य त्यागी भरत चक्रवर्ती तथा श्री शांतिनाथ. कुंथुनाथ, अरह नाथ, ये तीन भी चक्रवर्ती पद को छोड़कर साधु हुए। इनका विशेष वर्णन प्रथमानुयोग से जानना चाहिए।

दुनिया के अनेक विषाद और पंथों की भरमार देखकर घबड़ाये हुए भव्य को किसका अनुकरण करना चाहिये, इसका उत्तर देते हैं—

श्रुति विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना,
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणं ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥"

भावार्थ—श्रुति,स्मृति, आदि तथा ऋषियों के मन्तव्य परस्पर भिन्न २ हैं। धर्म का तत्त्व इतना सूक्ष्म है कि मानों गुफा में छिपा हुव है। इसलिये महापुरुष, तीर्थंकर, गणधर आदि, जिस मार्ग पर चले हैं उसी मार्ग पर कटिबद्ध तथा दृढ़ होकर भव्य धर्मात्मा को चलना चाहिये

निरतिचार द्वादस व्रत पालने के इच्छुक को, राज्य आदि का त्याग करना ही चाहिये। क्योंकि राग और वैराग्य ये दोनों कार्य एक साथ निभ नहीं सकते। सोही एक कवि के वचन से भी स्पष्ट होता है—

दो मुख पंथी चले न पंथा, दो मुए, सूई सिंये न कन्था।
दोय काज नहीं होत सयाने, विषय भोग अरु मोक्षहु जाने।

भावार्थ—एक ही पथिक जैसे पूर्व और पश्चिम दो मार्गों को तय नहीं कर सकता, अथवा सूई दो ओर कपड़े को सीने में असमर्थ है, इसी प्रकार कोई पुरुष चाहे कि मैं भोग भी भोगता रहूं और मोक्ष का भी साधन करलूं तो ऐसे परस्पर विरुद्ध कार्य एक साथ नहीं हो सकते हां समव्याप्ति में दोनों कार्यों की संभावना रहती है। किन्तु भोगने और मोक्ष की परस्पर में विषम व्याप्ति है, शीत और उष्ण स्पर्श की तरह रागद्वेष तो दोनों परस्पर में एक दूसरे के आश्रित हैं, इसलिये एक साथ ही रहते हैं। जैसाकि इष्टोपदेश की टीका में स्पष्ट किया है।

यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः ।
उभावेतौ समालम्ब्य, विक्रमत्यधिकं मनः ॥

अर्थात्—जहां राग है, वहां अवश्य द्वेष है। इन दोनों के आधार से मन में विकार होता है।

जिन गृहस्थों के घर में परम्परा से खेती का कार्य होता चला आया है, वे भी जब व्रत धारण करें, तब उस कार्य को अपने अन्य कुटुम्बियों के सुपुर्द करके स्वयं बारह व्रत धारण करें, तथा त्रस हिंसा प्रत्यक्ष होवे ऐसे कार्यों का सर्वथा त्याग करें। घर में रहने वाला व्रती हो चाहे गृहत्यागी हो वह जाति की रसोई (जीमन वार) में जीमने के वास्ते न जावे, क्योंकि बड़े भोज में शुद्धि अशुद्धि तथा मर्यादा अमर्यादा का विचार नहीं रहता, जैसे तैसे कार्य पूरा करने की धुन रहती है। इसलिये ऐसे भोज आदि में शामिल होने की स्वभावतः अरुचि होवे तभी त्यागीपन शोभा देता है, नहीं तो भेप मात्र रहता है।

हीन जातियों का सा बर्ताव या उनका संसर्ग नहीं करना चाहिये, किन्तु उदार और उत्तम आचार विचार रखना चाहिए। व्रती मनुष्य पशु आदिका युद्ध न देखे। बावड़ी तालाब या नदी में कूदकर स्नान न करे। मेला नाटकतमाशा संगीत सम्मेलन आदि राग वर्द्धक कार्य में शामिल न होवे। प्रतिष्ठा आदि धार्मिक समारोह में जाने का निषेध नहीं। ऐसे शब्द मुंह से नहीं कहे जिनसे धर्म और अपनी हंसी होवे। बचनों से ही मनुष्य की परीक्षा और प्रामणिकता होती है। नीतिकारों का कहना है कि हीन जाति वालों, या उत्तम जाति वालों के कोई सिर या पैर में मुद्रा नहीं लगी हुई है जिससे उनकी पहिचान हो जावे। किन्तु जैसे जैसे वे उत्तम, या अधम शब्द बोलते हैं, उसी से उनके कुल का ऊँच नीचपना मालुम हो जाता है। इसी तरह व्रती को हमेशा हित, मित, मधुर और योग्य ही शब्द बोलने चाहिये, अव्रती सरीखे शब्दों का उच्चारण भी नहीं करना चाहिये। यही कहा है—

"न जारजातस्य ललाटशृङ्गं,
न कुल प्रसूतस्य न पादपद्मं।
यदा यदा मुञ्चति वाग्विलासं,
तदा तदा तस्य कुलप्रमाणम् ॥"

शब्द वर्गणा में इतनी प्रबल शक्ति है कि संसार के अन्दर जितने भी वशीकरणादि मंत्र हैं वे सब इस शब्द से ही सिद्ध होते हैं। देखिये-जिनेन्द्र भगवान् का सम्पूर्ण संसार दास हो जाता है, वह इस शब्द का ही महात्म्य है। जिस पुरुष ने अपने बचन में दूषण लगाया है उसने अपना सर्वस्व नाश किया है। अतः प्राण जाने पर भी अपशब्द का उच्चारण नहीं करना चाहिये। ऐसे शब्द बोलने से मौन रखना ही अत्युत्तम है जिससे कि अकार्य नहीं होवे और निन्दा से बचे तथा धर्म की हँसी नहीं होवे।

व्रतियों को यह ध्यान रहे कि वह अपने पास चमड़े का कोई भी सामान, जूता वगैरह साथ में नहीं रक्खें। तथा ऊनी वस्त्र भी

नहीं रक्खें। चटाई के ऊपर सोवें। दो घड़ी दिन चढ़ने के पश्चात् से दो घड़ी दिन रहे उसके मध्यम में अपनी खान पान क्रियायें एक बार करलेनी चाहिये। समय पड़े तो दूसरी बार जल पान करलेवें नहीं तो एक बार ही करें।

सिद्धान्तों में जो षट् कर्म बताये हैं उनको साधने के लिये व्रती को सदा तत्पर रहना चाहिये। उसमें शिथिलाचारी नहीं होना चाहिये।

जिस देश में व्रत भंग होजावे ऐसे देशों में कभी नहीं जाना चाहिये। तथा एकल विहारी न होकर संघ में रहना ही अच्छा है।

यह भी ध्यान में रहे कि-जब दीर्घ शंका व लघुशंका जावे तब णमोकार मंत्र नववार सत्ताईस श्वासोच्छ्वास में पढ़ना चाहिये। आने में, जाने मे, भोजन में, सोने में, लघुशंका में, दीर्घ शंका में यह मंत्र जपना चाहिये, इसमें भूल नहीं रक्खे।

गृहवासी व्रतियों के तो व्रत छः कोटियों से पलते हैं और गृहत्यागी व्रती के व्रत नव कोटि से पलने चाहिये, ऐसा सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की आज्ञा उल्लंघन करने का साहस नहीं करना चाहिये। व्रती होकर प्रमाद नहीं करना-और अपनी जितनी ज्ञान व आचरण की शक्ति हो उतना ही व्रत लेना चाहिए, अधिक नहीं। क्योंकि व्रत संसार परिपाटी को दूर करने के लिये है न कि संसार परिपाटी को बढ़ाने के लिये। सोही स्व० पं० दौलतरामजी छहढाला में बताते हैं—

यह राग आग दहे सदा तातैं समामृत सेईये।
चिर भजे विषय कषाय अबतो त्यागनिजपद लेईये॥

कहने का तात्पर्य यह है कि संसार रूपी राग को शांत कर आत्म रूप भावों के समामृत का पान कर चिरकाल तक विषय सेवन किये अबतो त्याग करो और शांति को भजो, अन्यथा पत्थर की नांव की तरह डूब जावोगे।

भगवन् नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती-गोमटसार कर्म काण्ड में बताते हैं—

चत्तारि विखेत्ताइं आउगबंधेण होई सम्मत्तं।
अणुवदमहव्वदाईं ण लहइ देवा उगं मोत्तं॥ ३३४॥

अर्थ—चारों ही गतियों में किसी भी आयु के बंध होने पर सम्यक्त्व हो जाता है। परन्तु देवायु के बंध के सिवाय अन्य तीन

आयु के बंधवाला जीव अणुव्रत तथा महाव्रत नहीं धारण करसका है। क्योंकि महाव्रत के कारणभूत विशुद्ध भाव उत्पन्न नहीं होते। इन व्रतों का ऐसा महात्म्य है।—जो अस्पर्श शूद्र हैं वेभी अणुव्रतों को पूर्ण रीति से पालन करते हैं किन्तु पूर्ण देश को पालन नहीं कर सके। इसी प्रकार का कथन अन्य ग्रन्थों मे भी पाया जाता है। देश संयम स्पर्श शूद्रके तो होता, है अन्यथा नहीं।

अणुव्रतों को पालन कर छोड़ देने से क्या स्थिति होती है सो ही कहते हैं।

भरये पंचमकाले, जिनमुद्राधारग्र ंथसव्वस्से।
साडेसात करोर जाइये निगोयमज्जमि ॥ १ ॥

[योगसार पाहुड]

अर्थ—इस भरत क्षेत्र मे इस पंचम काल के निमित्त से परिग्रह लोभ को धारण कर दिगम्बर या दिगम्बर उपासक कहलाकर साड़े सात करोड जीव निगोद के पात्र होंगे। क्योंकि परिग्रह के लोभी दिगम्बर सम्प्रदाय में इस पंचम काल के महात्मा से विषय कषाय के लोभ में जीव फँसकर दुखी होंगे।

इस भरत क्षेत्र में ऐसे भी जीव उत्पन्न होंगे जोकि सीधे विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर नव वर्ष बाद केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष चले जायेंगे। इसी को बताते हैं।

"भीवासय तेइसा, पंचम कालेय भद्दपरिणामा।
उप्पाइपु विदेहे नवमइव रसे दु केवली होदी ॥ १ ॥"

अर्थ—इस प्रकार के जीव इस पंचम काल में इस भरत क्षेत्र में भद्र परिणामी पुण्यात्मा कहीं से आकर उत्पन्न होंगे और उनकी शक्ति के अनुसार धर्म साधन कर अपनी आत्मा को स्वल्प कर्मी बनाकर मनुष्य आयु के निमित्त से एकसो तेईस जीव महाविदेह क्षेत्र में जाकर जन्मलेकर नव वर्ष के अन्दर केवल ज्ञान प्राप्त करेंगे। उनका विशेष खुलासा इस प्रकार है। पंचम काल २१००० वर्ष का है। इसके आचार्यों ने सप्त भेद किये हैं। पहला भाग–३००० का दूसरा भी ३००० का इस तरह प्रत्येक भाग-तीन २ हजार का है, इस प्रकार सात भेद माने हैं। सो इन एक २ भेद के अन्दर भद्र परिणामी स्वल्प कर्मी विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर मोक्ष में जावेंगे।

पहला भाग तीन हजार वर्ष का है उसमें ६२ भद्र परिणामी विदेह में जाकर जन्म लेकर नववर्ष में केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष चले जायेगें।

सं. प्र.

दूसरे भाग के तीन हजार वर्ष के काल मे ३१ भद्र परिणामी विदेह में उत्पन्न होकर मोक्ष को जावेंगे।

तीसरा तीन हजार वर्ष का समय आवेगा जब उसमें १६ जीव विदेह में उत्पन्न होकर मोक्ष को जावेंगे।

चतुर्थ ३००० वर्ष का आवेगा-उसमें ८ जीव विदेह में उत्पन्न होकर मोक्ष को जावेंगे।

पांचवां जब ३००० वर्ष का आवेगा तब ४ जीव विदेह में जाकर मोक्ष को जावेंगे।

छटवां ३००० वर्ष का आवेगा तब २ जीव विदेह में उत्पन्न होकर मोक्ष को जावेंगे।

सातवां ३००० वर्ष का जब आवेगा तब १ जीव विदेह में उत्पन्न होकर मोक्ष को जायगा।

इस तरह पंचमकाल में भी जीवों का भला होगा। इसलिये जितने भी साधन बनाये जाते हैं वे सब आत्महित के उपाय हैं।

प्रत्येक जीव का कर्तव्य है कि वह आत्म हित में लगे। जीवन का कोई भरोसा नहीं। यह मनुष्य पर्याय भी बार २ नहीं मिलती हम आगे मनुष्य होंगे अथवा नहीं यह भी निश्चित नहीं। क्योंकि—

"साधिकद्वयब्धिसहस्र' स्थिति जीवानां व्यवहारे।
तस्मिन्नेव अष्टचत्‌ प्राप्नोति त्रिवेदे पर्यायाः॥ १॥"

अर्थ—यह जीव इस संसार सागर में दो हजार सागर तक रहता है। विशेष नहीं रहता है। इसमें इसको ४८ मनुष्य की पर्यायें प्राप्त होती हैं।

उसमें सोलह तो पुरुष वेद, १६ स्त्री वेद, १६ नपुंसक वेद—जिसमें यह मालुम नहीं कि तुम्हारी कौनसी पर्याय है। अगर आखिरी पर्याय होवे तो अब मनुष्य पर्याय मिल नहीं सकती और संसार में डूब जावोगे—इससे यह मनुष्य पर्याय प्राप्त करना महान् दुर्लभ है—अतः श्री गुरुओं का संयम धारण करने का उपदेश धारण करो।

सामायिक प्रतिमा का स्वरूप

"जो कुणइ काउसग्गं, बारस आवत्त संजुदो धीरो।
णमण दुगंपि करंतो चदुप्पणामो पसण्णप्पा॥"

चिंतत्तो ससरूवं जिणविंवं अहव अक्खरं परमं ।
झायदिकम्मविवायं, तस्स वयं होदि सामइयं ।।"

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि श्रावक बारह आवर्त सहित चार प्रणाम सहित दो नमस्कार करता हुआ, प्रसन्न है आत्मा जिसका, धीर दृढ़ होता हुआ कायोत्सर्ग करता है, और वहा पर अपने चैतन्य मात्र शुद्ध स्वरूप को ध्याता हुआ चिंतवन करता रहता है एवं श्री विंवों का चिन्तवन करता है या पंच परमेष्ठि का वाचक णमोकार मंत्र का ध्यान करता है, तथा कर्मोदय से रसकी जाति का चिंतवन करता है उसके सामायिक प्रतिमा होती है ।

सामायिक के भेद और उनका स्वरूप

द्रव्य सामायिक और भाव सामायिक भेद से आचार्यों ने सामायिक के दो भेद बताये हैं ।

१ द्रव्य सामायिक—जो शरीर मात्र से कार्य रूप चेष्टा की जावे उसे द्रव्य सामायिक कहते हैं ।

२ भाव सामायिक—आत्मा का चिन्तवन भावों द्वारा किया जाना ।

अब द्रव्य सामायिक का विशेष स्वरूप बतलाते हैं—

सामायिक दिन व रात्रि में गृहस्थ-ब्रह्मचारी-क्षुल्लक व ऐलकों को तीन बार करनी पड़ती है और संयमी मुनियों को चार बार करनी पड़ती है ।

सामायिक प्रतिमा धारी को नियम से तीनों समय सामायिक, करना आवश्यक है, अन्यथा उसकी प्रतिमा में दूषण लगता है । व्रत प्रतिमा तक सामायिक एक या दोबार अथवा तीन बार भी कर सकता है ।

सामायिक के लिए योग्य स्थान

"गिरिकंदराविवरशिलालयेषु गृहमन्दिरेषु शून्येषु ।
निर्दंशमशकनिर्जनस्थानेषु ध्यानमभ्यसत ।। ६ ।।"

[ज्ञानसार]

अर्थ—पर्वत की गुहा में, पर्वतपर, मठ एवं मन्दिर तथा शून्य स्थलों में जहाँ डांस एवं मच्छर न हों तथा निर्जन स्थान हो वहां पर सामायिक एवं ध्यान करना चाहिये।

"एकान्ते सामायिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ॥ ६६ ॥ [ज्ञानसार]

अर्थ—परिषह उपद्रव आदि से रहित, स्त्री नपुंसक पशु आदि के शब्द से रहित निर्जन स्थान में, एवं वन में जहां पर चित्त में व्याक्षेप अर्थात् व्याकुलता उत्पन्न न हो, ऐसे स्थल में, चैत्यालय में अथवा तालाब के तट पर सामायिक करनी चाहिये।

परिषह आने पर चित्तमें क्षोभ नहीं करना चाहिये। धीरता पूर्वक सहन करना चाहिये। अर्थात् सामायिक समय दृढ़ता रखनी चाहिये।

द्रव्य सामायिक करने की विधि

सामायिक के लिये पूर्व और उत्तर ये दो दिशायें शुभ हैं। पूर्व दिशा की तरफ मुंह करके खड़ा होवे और दोनों हाथों को नीचे की तरफ लम्बा करके नव वार णमोकार मंत्र का जाप करे। तथा तीन बार हाथ जोड कर आवर्त करें पश्चात् अपने शरीर को नमावे अर्थात् शिरोनति करें।

उसके बाद इस प्रकार का विचार करे कि पूर्व दिशा सम्बन्धी जो जिन भगवान् के कृत्रिम या अकृत्रिम चैत्यालय एवं मुनि या आर्यिका हों उन को मेरा बारंबार नमस्कार हो। इसी प्रकार चारों दिशा सम्बन्धी (पूर्व-पश्चिम-उत्तर दक्षिण) दिशाओं में भी जाप्य आवर्त एवं शिरोनति तथा विचार करे। बाद में पांचवी बार में पूर्व दिशा में मुख हो तब नमस्कार करे। और अपने से जैसा बने वैसा ही आसन लगाकर चित्तस्थिर रखें। फिर पाताल लोक सम्बन्धी चैत्यालयों को नमस्कार करे। फिर यह विचार करे कि मैं अज्ञानी हूँ जहां पर बैठा हूँ वहां पर जिन भवन हों उनको मैं मन वचन काय से नमस्कार करता हूँ—और क्षमाप्रार्थी हूँ मुझे यहां बैठने से चैत्यालय के अविनय का पापास्रव न हो। और जब सामायिक करने के लिये बैठे उस समय अपने शरीर पर से कपडे तथा भूषण आदि सब अबतक सामायिक करे तब तक के लिये उतार देवे।

कदाचित् मैं उठूं और मुझ को भाग्य वश चक्र आजावे तो साढ़े तीन हाथ पृथ्वी से अतिरिक्त मेरे सब परिग्रह का त्याग है ऐसा संकल्प करे। पश्चात् सामायिक के बाद यदि आयु कर्म रहे तो उसका त्याग नहीं है। इस प्रकार विचार कर सामायिक के लिये बैठना चाहिये और बैठकर अपने आत्म स्वरूप का विचार करना चाहिये।

सामायिक के समय क्या विचार करे इस विषय पर कहा है—

"कोऽहं कीदृगुणः कत्यः किंप्राप्यः किंनिमित्तकः ।
इत्यूहः प्रत्यहं नोचेत् अस्थाने हि मतिर्भवेत् ॥ ७८ ॥" [क्षत्रचूडामणि]

अर्थ—मैं कौन हूं मुझ में क्या २ गुण हैं और मैं कहां से आया हूं एवं क्या प्राप्त कर सकता हूं। और मैं किस निमित्त के लिये हूं यदि इस प्रकार प्रतिदिन विचार करे या होता रहे तो निश्चय से मनुष्यों की बुद्धि अयोग्य स्थलों पर पहुंच जाती है। हमें मालूम होजाता है कि बुराई कौनसी है, जिसे छोड़ा जाय। तात्पर्य यह है कि अयोग्य कर्त्तव्यों से निवृति करके और शुभ कर्मों में प्रवर्तन करके मनुष्य पर्याय को सार्थक करें।

आगे और भी इस विषय पर कहते हैं—

"रागद्वेषविनिर्मुक्तः ध्यायति यो निजात्मनः ।
गच्छति स्वस्वरूपं स वदन्ति मुनिपुङ्गवाः ॥"

अर्थ—जो, प्राणी रागद्वेष से रहित होकर अपनी आत्मा का ध्यान करता है वह आत्म स्वरूप को शीघ्र प्राप्त कर लेता है, ऐसा मुनीश्वरों ने कहा है।

यदि उल्लिखित प्रकार से आत्म चिन्तवन करना न जाना होतो जो पाठ कंठस्थ हो उसे स्वयं अथवा पुस्तक से पढलेवे।

जितने समय तक उत्तम मध्यम एवं जघन्य सामायिक के अनुकूल प्रत्याख्यान करे उतनी देर तक समायिक करे।

कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि सामायिक में चित्त नहीं लगता है इधर उधर दौड़ता रहता है उसे रोकना कठिन है। उनके लिए कुछ थोडी सी निम्न प्रकार से विधि बताते हैं। इससे मनका वेग अवश्य रुक सकेगा।

जब तक सामायिक करो चित्त को जप से अन्यत्र मत लेजाओ। जपन के साथ उपयोग बनाये रखो। स्थिर बुद्धि पराक्रमपूर्वक करो और उस समय कमल की रचना रूप प्रयोग अपने हृदय ऊपर रखो और णमोकार मंत्र तथा चार आराधनाओं का स्मरण करना प्रारंभ करदो, जिससे चित्त को संतोष पहुँचेगा और मनोवृति इधर उधर नहीं जावेगी।

कमलाकार यन्त्र की रचना अपने हृदय के बीचों बीच ध्यान या सामायिक करने के समय उपयोग में लाओ।

इस यन्त्र में नवकोष्ठक होते हैं। मध्य में एक वर्तुल (गोल) कोष्ठक है उसमें १ नं० रक्खे तथा प्रथम नाम अरहंत—णमो अरहंताणं। शेष चारों दिशाओं में चार कोष्ठक करे ऊपर के कोष्ठक में २ नं० रक्खे। और उस कोष्ठक को पूर्व दिशा मे चिंतवन करे उसमें णमो सिद्धाणं का ध्यान करे। तृतीय कोष्ठक दक्षिण विभाग में करे। उसमे ३ नं० रक्खे और णमो आइरियाणं का ध्यान करे। चतुर्थ कोष्ठक पश्चिम दिशा में ध्यानस्थ करे और नं० ४ उसमें रक्खे और णमो उवज्झायाणं का चिन्तवन करे। पञ्चम कोष्ठक उत्तर भाग में चितारे और उसमें ५ नं० रक्खे और णमो लोए सव्व साहूणं का चिन्तवन करे। षष्ठ कोष्ठक ईशान कोण में विचारे और उसमे ६ नं० रक्खे और उसमें सम्यग्दर्शनायनमः इस पद का चिन्तवन करे। सप्तम कोष्ठक आग्नेय कोण में विचारे और सात अंक का उसे विचार कर उसमें क्रमश: सम्यग्दर्शनाय नमः इस पद का चिन्तवन करे। अष्टम कोष्ठक नैऋत्य कोण में करे और क्रमशः उसमें सम्यक्चारित्राय नमः इस पद का चिन्तवन करे। अन्त का नवम कोष्ठक करे उसको वायव्य कोण में करे और उसमें क्रमशः सम्यक्तपसे नमः ऐसा विचारे।

इस प्रकार कमलाकार इस यन्त्र में जप करना एवं ध्यान लगाना चाहिये। इन कोष्ठकों में अपने, क क्रम निरन्तर रक्खो तो अड़तालीस मिनट में १०८ नाम पूर्णरूप से जापे जावेंगे। ऐसा क्रम रखने से चित्त स्थिर रह सकेगा।

यदि चित्त मे किसी प्रकार की गड़बड़ी होतो बहुत शांति के साथ संभालते रहना चाहिये। जिससे चित्त शनैः शनैः प्राचीन अभ्यास को छोड़ कर स्थिरता धारण कर लेवे। आपको शांति के इस प्रयोग से चित्त में अवश्य कुछ स्वस्थता आवेगी और इस प्रकार के जाप से सामायिक भी होगी, जाप भी होगा तथा शांति भी मिलेगी एवं अभ्यास से कुछ समय में यह शांति दायक प्रयोग भी सम्पन्न हो जावेगा और संसार चक्र से हटकर चित्त आत्मिक सुख एवं अनुभव का भी कुछ लाभ कर सकेगा।

आगे सामायिक के समय क्या २ ध्यान करना चाहिये इसको सप्रमाण नीचे बतलाते हैं।

"योग्यकालाशनस्थानमुद्रावर्तशिरोनतिः।
विनयेन यथाजातः कृतिकर्मामलं भजेत् ॥

अर्थ—सामायिक के लिये योग्य समय होना चाहिये। जैसे "पूर्वाह्न काल अपराह्न काल अथवा मध्याह्न काल। चौरासी आसन बतलाये गये हैं उनमें से जो उचित्त हो अर्थात् जिससे ध्यान स्थिर रह सकता हो वही आसन उचित्त है। जैसे-पद्मासन खड्गासन और अर्ध पर्यंकासन इत्यादि। यहां पर सुखासन से तात्पर्य है। ध्यान योग्य स्थानों का निर्देश ऊपर कर चुके हैं। ध्यान की मुद्रा भी अनेक मानी गई है किन्तु

विशेष उपयोगी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि लगाने की ध्यान मुद्रा है। आवर्त तथा शिरोनति को भी पीछे बता चुके हैं। विनय सहित जिस प्रकार नग्नरूप बालक कषायों से रहित होता है उस प्रकार होकर स्थिर मन से सावद्य क्रिया रहित स्थिरता से रहे।

सामायिक के भेद

सामायिक के भी आचार्यों ने जो अनेक भेद किये उन्हें बताते हैं। मूलाचार ग्रन्थ के कर्ता श्री वट्टकेर स्वामी ने सामायिक षट् आवश्यकों में गिनाया है।

"सामाइय च व चीसत्थ.व, वंदणयं पडिक्कमणम् ।
पच्चक्खाणं च तहा काओसग्गो हवदि छट्ठो ॥ ५१६ ॥ [मूलाचार षडावश्यकाधिकार]

अर्थ—१सामायिक २ चतुर्विंशतिस्तव ३ वंदना ४ प्रतिक्रमण ५ प्रत्याख्यान और ६ कायोत्सर्ग ये ६ आवश्यक हैं।

आगे इन का स्वरूप कहते हैं।

१ सामायिक—अपनी आत्मा अनादि काल से पर द्रव्यों के निमित्त से रागी द्वेषी होकर संसार में भ्रमण करती फिर रही है उन राग द्वेष के भावों से दूर कर इसको आत्म स्वभाव में रत करनाही सामायिक का सामान्य लक्षण है।

२ चतुर्विंशति स्तव—वर्तमान कालिक तीर्थङ्करों के नाम की निरुक्ति रूप भूतकालिक एवं वर्तमान कालिक गुणानुवाद करना स्तुति करना चतुर्विंशति स्तव है।

३ वन्दना—तीर्थंकरों में से किसी तीर्थङ्कर नाम से या सब नाम से वंदना-नमस्कार करना वन्दना है।

४ प्रतिक्रमण—प्रथम सामायिक काल के पश्चात् जब तक दूसरा सामायिक समय आवे उसके बीच जो कुछ कार्य में दूषण लगा हो उसका विचार करना प्रतिक्रमण है।

५ प्रत्याख्यान—प्रथम सामायिक के समय से दूसरे सामायिक के मध्य काल में जो दूषण लगा हो उसको पश्चाताप पूर्वक चिन्तवन करना और कहना कि भविष्य में ऐसा नहीं करूंगा तथा भविष्य में वैसा न करना प्रत्याख्यान है।

६ कायोत्सर्ग—जो मन वचन काय के निमित्त से पूर्व प्रत्याख्यान में दोष विदित हुआ है उसकी निवृत्तिके लिये प्रायश्चित रूप कायोत्सर्ग करना कायोत्सर्ग है।

समायिक के अन्य प्रकार से भी ६ भेद माने गये हैं उनको सप्रमाण लिखते हैं—

"णामट्ठवणादव्वे खेत काले तहेव भावे य।
सामाइ यह्मि एसो णिक्खेओ छव्वि ओणेओ ॥ ५१८ ॥ [मूलाचार षडावश्यकाधिकार]

अर्थ—सामायिक में भी निम्न प्रकार से छह प्रकार का निक्षेप होता है। १ नाम २ स्थापना ३ द्रव्य ४ क्षेत्र ५ काल और ६ भाव। आगे संक्षेप से इनकी व्याख्या बताते हैं।

१ नाम सामायिक—शुभ और अशुभ रूप जो नामों की निर्युक्ति है उसमें रागद्वेष नहीं करना नाम सामायिक है।

२ स्थापना सामायिक—सामायिक में स्थित होने के पश्चात् कोई दुष्ट जीव किसी जीव को बाण आदि के प्रयोग से मारे और वह जीव, मय शस्त्र एवं अस्त्र के यदि अपने आसन के समीप भी आपड़े तब भी सामायिक से विचलित नहीं होना स्थापना सामायिक है।

३ द्रव्य सामायिक—भले प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् तप सहित आत्मा को इन्हीं में रत रखना, आत्म परिणति से चलाय मान नहीं होने देना, यदि चलायमान हो जावे तो उसे पुरुषार्थ द्वारा रोकना, पुनः आत्म परिणति में रत करना द्रव्य सामायिक है।

४ क्षेत्र सामायिक—ग्रीष्म या शीत सम्बन्धी कोई बाधा उत्पन्न हो जावे या मनुष्य एव देव अथवा पशु के द्वारा कोई उपसर्ग की बाधा उपस्थित हो जावे तब यह विचारना चाहिये कि यह शरीर तो विनश्वर ही है, एक वार अवश्य विनाश होवेगा ही, फिर इस के विनाश के भय से मैं जो सामायिक की प्रतिज्ञा ले चुका हूँ उससे क्यों चलायमान होऊँ? यदि मैं चलायमान हो जाऊंगा तो अन्य धर्मात्मा मुझ को विचलित देखकर अस्थिर कहेंगे एवं हसेंगे तथा धर्म में भी क्षति होगी, देखादेखी अन्य लोग भी सामायिक में दृढ़ न रहेंगे। ऐसा विचार करना और चलाय-मान न होना क्षेत्र सामायिक है।

५ काल सामायिक—यम-नियमों से रहे, रंचमात्र भी चलायमान नहीं होवे और जितने समय पर्यन्त सामायिक करने का नियम

किया है उतने समय तक स्थिर रहे। सामायिक का उत्कृष्ट काल ६ घड़ी है, मध्यम काल ४ घड़ी है और जघन्य काल २ घड़ी है। एक घड़ी २४ मिनिट की होती है।

६ भाव सामायिक—जब आत्म विचार करने लगे तब ऐसा विचार हो जावे कि जहां पर आत्मा है वहां पर पौद्गलिक रागद्वेषादिक नहीं है। मेरा आत्मा इन रागद्वेषादि से पृथक् है। अभ्यास करते २ ऐसे भाव शीघ्रता से जमने लगे। आचार्यों ने इसे भाव सामायिक कहा है और इसे परमोच्च उपादेय कहा है।

सामायिक के षट्कारक रूप

१ कर्त्ता सामायिक २ कर्म सामायिक ३ करण सामायिक ४ सम्प्रदान सामायिक ५ अपादान सामायिक और ६ अधिकरण सामायिक। इस प्रकार भी सामायिक के ६ भेद हैं।

आगे प्रत्येक को विशद रूप से दिखाते हैं:

१ कर्त्तासामायिक—मैं अपनी आत्मा को अपने द्वारा आत्म स्वरूप में ही देखता हूं इसको कर्त्तासामायिक कहते हैं।

२ कर्मसामायिक—मैं अपनी आत्मा को अपने द्वारा आत्म स्वभाव में ही स्थापित करता हूं।

३ करण सामायिक—मैं अपनी आत्मा को अपने द्वारा आत्मा के कर्त्तव्यों में ही स्थापित करता हूं।

४ सम्प्रदान सामायिक – मैं अपनी आत्मा के लिये अपनी आत्मा को आत्म-भावों में ही ठहरा रहा हूं।

५ अपादान सामायिक—मैं अपनी आत्मा को रागद्वेष से पृथक् आत्मा में ही जानता हूं।

६ अधिकरण सामायिक—मैं अपनी आत्मा के स्वभाव का ज्ञाता होकर अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में ही स्थापन कर आत्मा को आत्मा में ही देखता हूं।

यहां तक जितने सामायिक करने के प्रकार एवं सामायिक क्रियाओं का वर्णन किया है वह सब भाव सामायिक है। आत्मा या मन को स्थिर रखने के लिये ये सब प्रयोग बताये गये हैं यह पूर्ण रूप से ध्यान में रखना चाहिये। आत्मोन्नति भाव सामायिक से ही होती। आत्मा की गवेषणा का मुख्य साधन आचार्यों ने भाव सामायिक ही बताया है। संसार में कल्याणकारक वस्तु भावसामा-

चिक है और भाव यदि शुद्ध हैं तो श्रेयस्कर है। यदि मिथ्या हैं तो संसार के भ्रमण कराने वाले हैं। भावसामायिक का भी मुख्य कारण ध्यान है। अब ध्यान के प्रकार सप्रमाण बताते हैं। ध्यान के सम्बन्ध में पूर्वार्द्ध की तृतीय किरण में वर्णन किया जा चुका है। फिर भी प्रसंगवश यहां भी किंचित् वर्णन किया जा रहा है।

ध्यान के भेद

"ध्यानं चतुः प्रकारं भणन्ति वरयोगिनः जितकषायाः।
आर्तं तथा च रौद्रं धर्मं तथा शुक्लध्यानं च ॥ १० ॥ [ज्ञानसार]

अर्थ—कषायों पर विजय करने वाले आचार्यों ने आर्त, रौद्र, धर्म तथा शुक्ल इस प्रकार से चार प्रकार का ध्यान बताया है।

अब क्रमशः प्रत्येक ध्यान का कार्य एवं स्वरूप बताते हैं।

"तंबोलकुसमलेवणभूसणपियपुत्तचिंतणं अट्टं।
बंधणडहणवियारणमारण चिंता रउद्द म ॥ ११ ॥
सुत्तत्थमग्गणाणं महव्वयाणं च भावणा धम्मं।
गयसंकप्पवियप्पं सुक्कज्झाणं मुणेयव्वं ॥ १२ ॥ [ज्ञानसार पद्मनंदी]
"ताम्बूलकुसुमलेपनभूषणप्रियपुत्रचिंतनं आर्तं।
बन्धनदहनविदारण—मारणचिन्तारौद्रं ॥ ११ ॥
सूत्रार्थमार्गणानां महाव्रतानां च भावना धर्मं।
गतसंकल्पविकल्पं शुक्लध्यानं च मंतव्यम् ॥ ॥ १२ ॥

अर्थ—तांबूल, कुसुम, लेपन, भूषण, और प्रिय पुत्र एवं प्रियजन तथा पुत्र की चिन्ता करना आर्तध्यान है। रौद्रध्यान में बांधने जलाने विदारण एवं मारण करने की चिन्ता होती है। धर्म्यध्यान में सूत्रार्थ—मार्गणायें तथा महाव्रतों की भावना की जाती हैं। संकल्प और विकल्पों से रहित शुक्ल ध्यान होता है। अब यह बताते हैं कि किस २ ध्यान से क्या २ गति प्राप्त होती है।

किस ध्यान से कौनसी गति प्राप्त होती है ?

"तिरियगई अट्टेण णरयगई तह रउद्दज्झाणेण ।
देवगई धम्मेण सिवगइ तह सुक्कझाणेण ॥ १३ ॥
तिर्यग्गतिः आर्तेन नरकगतिः तथा रौद्रध्यानेन ।
देवगतिः धर्मेण शिवगतिः तथा शुक्लध्यानेन ॥ १२ ॥ (ज्ञानसार पद्मनंदी)

अर्थ—आर्तध्यान से प्राणी तिर्यञ्च गति में जाता है, रौद्र ध्यान से नरक गति प्राप्त होती है, धर्म्य ध्यान से देवगति और शुक्ल ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आर्तध्यान के भेद

अब प्रत्येक ध्यान के चार २ भेद बताते हैं—उसमें प्रथम आर्त ध्यान के चार भेद बताते हैं।

अनिष्टयोगजन्माद्यं तथेष्टार्थात्ययात् परम् ।
रुक् प्रकोपात् तीर्यं स्यात् निदानात् र्यमङ्गिनाम् ॥ २४ ॥ (ज्ञानार्णव अध्याय २६)

अर्थ—आर्तध्यान अनिष्टसंयोगज १ इष्टवियोगज २ पीडाचिन्ताजात ३ और निदानज भेद से चार प्रकार का है। प्रत्येक का विशदीकरण नीचे किया जाता है।

१ अनिष्ट संयोगज–आर्तध्यान—दुःखदायी, कुरूप, अनेक व्याधियों से युक्त शरीर को देखकर क्लेश युक्त परिणामों का होना अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है। यह अपने शरीर को देखकर भी होता है तथा स्त्री–पुत्र, बांधव; मित्र, नौकर आदि के द्वारा भी हो सकता है—अनेक प्रकार के पापी जीवों के संयोग से जो कि अपने से प्रतिकूल हैं, उनसे जो संक्लेश परिणामों का होना है उसका नाम अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है।

२ इष्टवियोगज–आर्तध्यान—जो कोई अपना इष्ट अर्थात् प्रिय हो उसके वियोग से जो प्राणी के संक्लेश परिणाम हो जाते हैं

उसे इष्ट वियोगजनामका दूसरा आर्तध्यान का भेद कहते हैं। यह अपनी इष्ट वस्तु, जैसे सुन्दर शरीर, गंध पुष्प वस्त्राभूपण सुखदायिनी स्त्री पुत्र बांधव मित्र पड़ौसी नौकर पशु आदि के वियोग से होता है।

३ पीड़ाचिन्ताजन्य-आर्तध्यान—अनेक प्रकार के भयंकर रोगों के प्रकोप से जो पीड़ा एवं वेदना होती है और जब वह असह्य हो जाती है, चाहे वह अपने शरीर की हो अथवा पर शरीर की हो, तो उन व्याधियों का प्रतीकार किया जाता है और वह सब विफल होजाता है उस समय जो संकल्प विकल्प परिणामों से संक्लेश होता है, उसे पीड़ाचिन्ताजन्य आर्तध्यान का तीसरा भेद कहते हैं।

४ निदानबन्धज आर्तध्यान—संयम तप व्रत एवं चारित्र को शास्त्रानुकूल पालन करके आगामी काल के लिये जो विषय सेवन की सांसारिक अभिलाषा करना या अन्य किसी जीव के प्रसन्न करने की अभिलाषा करना है वह निदान बन्धज का चतुर्थ आर्तध्यान का भेद है।

यह आर्तध्यान तिर्यञ्चगति में ले जाने वाला है, अतः योग्य व्यक्तियों को एवं बुद्धिमानों को नहीं करना चाहिये।

रौद्र ध्यान के भेद

"हिंसानन्दान्मृषानंदाच्चौर्यात् संरक्षणात् तथा।
प्रभवत्यङ्गिनां शश्वदपि रौद्रं चतुर्विधम् ॥ २५ ॥ [ज्ञानार्णव अ० २६]

अथ—हिंसानंद १ मृषानन्द २ चौर्यानन्द ३ और परिग्रहानन्द ४ इस प्रकार रौद्रध्यान के चार भेद प्राणियों के होते रहते हैं।

१ हिंसानन्द रौद्रध्यान—बहुत से त्रस या स्थावर जीवों का अपने से या अन्य से वध या बंधन, मारण एवं ताड़न करना या करवाना तथा देखकर प्रसन्न होना, एवं ऐसा नियोग मिला देना जिससे अनेक जीवों का घात हो और देखकर फिर प्रसन्न होना, तात्पर्य यह कि हिंसा में ही आनन्द मानना हिंसानन्द रौद्रध्यान है।

२ मृषानन्द रौद्रध्यान—स्वयं असत्य कल्पना करना अथवा अन्य पुरुषों द्वारा कराना या असत्य बातों की सहायता देकर लोगों को झगड़े में फंसाकर प्रसन्न होना और यह कहना कि यह बड़ा चढ़ा था अब ठीक हो जावेगा, बिना पूछे भी बीच में बोलकर झगड़ा बढ़ा देना तथा प्रसन्न होना मृषानन्द नाम का दूसरा रौद्रध्यान का भेद है।

३ चौर्यानन्द रौद्रध्यान—स्वयं चौर्य में प्रवृत्त होना एवं चौरी करवाना, यहां चौरी किस प्रकार से हो सकती है—ऐसा चिन्तवन

करना एवं दूसरों के द्वारा दूसरों की चौरी करवाना सदा चौर्य विचारों को तथा चोरी के उपायों को विचारते रहना किसी के चोरी होने पर प्रसन्न होना चौर्यानन्द नामका तृतीय रौद्रध्यान का भेद है।

४ परिग्रहानन्द-रौद्रध्यान—क्रूरचित्त होकर आरंभ परिग्रह रूप सामग्री का संग्रह करना अथवा अन्य के द्वारा सामग्री का संचय देखकर प्रसन्न होना भी परिग्रहानन्द रौद्रध्यान है।

यह रौद्रध्यान नरक गति का कारण है। आर्तध्यान और रौद्रध्यान को तिर्यञ्च तथा नरक गति का कारण एवं अप्रशस्त जानकर छोड़ देना ही समुचित है। इन कुध्यानों के कारण जीव अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं।

बड़ी कठिनता से मनुष्य पर्याय और श्रावक कुल प्राप्तकर एवं जिनवाणी का श्रवण कर भी आत्म कष्टदायी इन ध्यानों को जो प्राणी करते ही रहते हैं वे प्राणी मनुष्य पर्याय तथा श्रावक रूपी कुल रत्न को प्राप्त करके व्यर्थ ही खोदेते हैं।

धर्म्यध्यान के भेद

"एयग्गेण मणं णिरु'भिऊण धम्मं चउव्विहं झाहि।
आणापायविवायविचओ य संठाण विचयं च ॥ २०१ ॥
"एकाग्रेण मनो निरुध्य धर्मं चतुर्विधं ध्याय।
आज्ञापायविपाकविचयः संस्थानविचयश्च ॥ २०१ ॥ [मूलाचार पंचाचाराधिकार]

अर्थ—हे भव्य जीव! तू एकाग्रता से इन्द्रियों के व्यापार तथा मनोव्यापार को रोककर एवं वश में करके धर्म्यध्यान का चिन्तवन कर। उसके निम्नलिखित ४ चार भेद हैं १ आज्ञाविचय २ अपायविचय ३ विपाकविचय और संस्थानविचय।

आज्ञाविचय का स्वरूप बतलाते हैं—

"पंचत्थिकायछज्जीवणिकाये कालदव्वमण्णे य।
आणागेज्झे भावे आणाविचयेण विचिणादि ॥ २०॥ [मूलाचार पंचाचाराधिकार]

अर्थ—आज्ञाविचयनामक धर्म्यध्यान से पंचास्तिकाय, छह द्रव्य, षट् जीवनिकाय और काल द्रव्य को सर्वज्ञाज्ञानुकूल ध्यान में लाया जाता है। अर्थात् इस प्रकार चिंतवन किया जाता है कि ये सब पदार्थ सर्वज्ञ वीतराग ने प्रत्यक्ष देखे हैं, कभी भी व्यभिचरित नहीं हो सकते हैं। क्योंकि अरहन्तों का वचन अन्यथा नहीं है।

अपायविचय धर्मध्यान का स्वरूप बतलाते हैं—

"कल्लाणपावगाओ पायविचिणादि जिणमदमुविच्च।
विचिणादि वा अपाये जीवाण सुहेव असुहेय ॥ २०३ ॥

[मूलाचार पंचाचाराधिकार]

अर्थ—अपायविचय धर्म्यध्यान द्वारा संसार के दुःख, कर्मों की पृथक्त्व, और सदा के लिये शान्ति प्राप्ति का उपाय और जैन धर्म का आश्रय लेकर मोक्षमार्गरूप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा किन २ कारणों से आस्रव बंध का संवर एवं निर्जरा होकर मोक्षप्राप्ति होती है ऐसा चिन्तवन किया जाता है।

आगे अपायविचय ध्यान के प्रकार तथा उनका स्वरूप बतलाते हैं।

अपायविचय पिण्डस्थ १ पदस्थ २ रूपस्थ ३ और रूपातीत ४ भेद से चार प्रकार का है।

१—पिण्डस्थ—अपनी आत्मा का शुद्ध चेतनता सहित ध्यान करना एवं अनुभव करना तथा पांच प्रकार के ध्यान करना पिण्डस्थ ध्यान है।

२ पदस्थ—पदस्थध्यान मन्त्र यन्त्रादि समुदाय रूप जपन किये जाते हैं। इसके अनेक भेद हैं।

३ रूपस्थ—इस ध्यान में अपनी आत्मा को चार कर्मों रहित केवल ज्ञान सहित समवसरण संयुक्त अरहंत रूप ध्याया जाता है।

४ रूपातीत—अष्ट कर्म रहित (द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरहित) शुद्ध द्रव्य क्षेत्र काल भाव मय भावात्मा का चिन्तवन करना रूपातीत धर्म्यध्यान है।

उल्लिखित अभ्यासों से ध्यान में दृढ़ता आती है। कहा भी है—

"पिण्डस्थे स्वात्मचिन्तनं पदस्थे मन्त्रवाक्यस्थं ।
रूपस्थे सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम् ॥ १ ॥

अर्थ—पिण्डस्थ ध्यान में स्वात्मचिन्तवन किया जाता है । पदस्थध्यान में मन्त्र वाक्यों का चिन्तवन किया जाता है, रूपस्थध्यान में सर्वचिद्रूप अरहंत रूप का ध्यान किया जाता है और रूपातीत में निरञ्जनसिद्ध आत्मा का ध्यान किया जाता है ।

पिण्डस्थध्यान का विशेष स्वरूप

"पिण्डस्थे पंच विज्ञेयाः धारणाः वीरवर्णिताः ।
संयमी वा स्वसंमूढो जन्मपाशान्निकृन्तति ॥ ३६ ॥
पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसनाथाथ वारुणी ।
तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ताः यथाक्रमम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—पिण्डस्थध्यान में भगवान् महावीर स्वामी ने पार्थिवी २ आग्नेयी ३ वायुधारणा ४ वारुणी और ५ तत्त्वरूपवती ये पांच धारणायें कही हैं । इनके ध्यान करने से स्वात्मरत संयमी पुरुष अनादि कालीन कर्म बंधन को छिन्नकर के मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

पार्थिवी धारणा का स्वरूप

आसन लगाने के बाद ध्यान में निम्नरीति से चिंतवन करना चाहिये कि यह मध्यम लोक क्षीर समुद्र के समान निर्मल–जल से परिपूर्ण है । उसके मध्य में जंबू द्वीप के समान गोलाकार, एक लाख योजन का, एकहजार पत्तों का धारण करने वाला, तपाये हुए सुवर्ण के समान चमकता हुआ एक कमल है । कमल के मध्य में (कर्णिका स्थान में) पीतवर्ण (सुवर्णाकार) एक सुमेरु पर्वत है उसके ऊपर पांडुकवन के बीच मे पांडुक शिला पर स्फटिक का एक सफेद सिंहासन है । उस सिंहासन पर मैं आसन लगा कर बैठा हूं और मेरा बैठने का उद्देश्य यह है कि पूर्व संचित कर्मों को जलाकर अपनी आत्मा को निर्मल शुद्ध बनालूं । इस प्रकार के चिंतवन करने का नाम पृथ्वी धारणा है ।

आग्नेयीधारणा का स्वरूप

पूर्ववत् सुमेरु पर्वत के पांडुकवन की पांडुक शिला के ऊपर स्फटिक सिंहासन पर बैठा हुआ ध्यानी आगे बढ़कर अपने नाभि

के ऊपर भीतरी स्थान में ऊपर हृदय की ओर उठा हुआ या फैला हुआ सोलह पत्र के सफेद कमल का चिन्तवन करे और उसके १६ पत्रों पर क्रम से पीतवर्ण से लिखे निम्नाङ्कित १६ स्वर का चिन्तवन करे। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः।

इस कमल के मध्य, किरण के बीचों बीच, दूसरा कमल ठीक इस ही कमल के ऊपर औंधा नीचे की तरफ मुख किये हुए अष्ट पत्रों का फैला हुआ चिन्तवन करे। इसके एक २ पत्र में क्रमशः काले वर्ण से लिखे ज्ञानावरण १ दर्शनावरण २ वेदनीय ३ मोहनीय ४ आयु ५ नाम ६ गोत्र ७ और अन्तराय ८ आठ कर्मों का चिन्तवन करे।

अनन्तर नाभि के अन्दर जो १६ पत्र का जो सफेद कमल चिन्तवन किया था उसकी किरण के बीच 'हूँ' रूप विचारना। हूँ का जो रेफ है उससे धूम निकलता विचारे। पुनः अग्नि की शिखा का चिन्तवन करे और यह विचारे कि यह अग्नि की शिखा अष्टकर्म लिखित कमल के आठों पत्तों को जला रही है। पुनः ऐसा विचारे कि अग्नि की ज्वाला बढ़ गई है और सम्पूर्ण शरीर को जला रही है और वह अग्नि त्रिकोण रूप है और तीनों लकीरों में र र र अग्नि बीज लिखा है और तीनों लकीरों से ही अर्थात् त्रिकोण रूप अग्नि मण्डल बना है, ऐसा चिन्तवन करे।

पुनः त्रिकोण के बाहर तीनों कोनों पर स्वस्तिक (साथिया) अग्नि मय लिखा है एवं अन्दर तीनों कोनों पर ॐ ऐसा अग्नि-मय लिखा हुआ विचारे। फिर विचारे कि भीतर तो अष्ट कर्मों को और बाहर इस शरीर को अग्नि मण्डल जला रहा है, अग्नि से जलते २ वे कर्म एवं शरीर भस्म रूप हो गये हैं तब वह अग्नि धीरे २ शांत होगई है। ऐसा विचारना ही आग्नेयी धारणा है।

वायुधारणा का स्वरूप

ध्यानी आकाश में विचरने वाले महावेग वाले और महाबलवान वायु मण्डल का चिन्तवन करे और विचारे कि वायु देव-सेनाओं को तथा सुमेरु पर्वत को भी चलायमान कर रही है, मेघों के समूह को नष्ट कर रही है और समुद्र को भी क्षुभित कर दिया है और समुद्र जगतीतल पर पृथ्वी को प्लावित कर रहा है और मेरे चारों तरफ एक गोल मण्डल बना लिया है। घेरे में (मण्डल में) आठ स्थान पर " स्वाय स्वाय " वायु बीज लिखा है। और पूर्व ध्यानस्थ में आया हुआ भस्म समूह (आग्नेयी धारणा में चिन्तवन किया गया भस्म समु-दाय) प्रबल वायु मण्डल ने तुरन्त उड़ा दिया है। अनन्तर इस वायु का स्थिर रूप चिन्तवन कर इसको शांत करे। इसको श्वसना धारणा अथवा वायवी धारणा कहते हैं।

वारुणी धारणा का स्वरूप

अनंतर ध्यानी पुरुष इस प्रकार विचारे कि आकाश में बड़े २ मेघों के समूह आगये हैं और बहुत जोर से चमक रहे हैं। बिजली

चमक रही है, बादल गर्ज रहे हैं व मूसलाधार जल बर्षा रहे हैं। मैं बीच में बैठा हूँ और मेरे ऊपर अर्ध चन्द्राकार वरुण मंडल (जल मण्डल) पप-पप जल के बीजाक्षरों से बरस रहा है, यह मेरी आत्मापर लगी हुई धूलि को धोकर साफ कर रहा है। आत्मा को अत्यन्त पवित्र कर रहा है।

तत्वरूपवती धारणा का स्वरूप

अनन्तर ध्यानी सप्त धातुरहित पूर्ण चन्द्रमा के आभावली सर्वज्ञ समान अपनी आत्मा का चिन्तवन करे।

ऐसा चिन्तवन करे कि मेरी आत्मा अतिशय युक्त मैं सिंहासन पर आरूढ, कल्याणक की महिमा सहित है और देव दानव एवं धरणेन्द्र तथा नरेन्द्रों से चरण कमल पूजे जा रहे हैं।

अनन्तर अपने शरीर में आठ कर्म (द्रव्य कर्म और नोकर्म रहित) स्फुरायमान प्रकट अतिशय युक्त निर्मल पुरुषाकार अपनी आत्मा का चिन्तवन करे इसे तत्त्व रूपवती धारणा कहते हैं।

पदस्थ ध्यान का स्वरूप

"पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः ॥"

अर्थ—पवित्र अक्षर रूप पदों का आलम्बन करके धर्मात्मा योगियों द्वारा जो ध्यान किया जाता है उसको आचार्य पदस्थ ध्यान कहते हैं।

अक्षर समुदाय रूप पदों के द्वारा शुद्ध स्वरूप अरहन्त या सिद्ध एवं उनके गुण का चिन्तवन जो किया जाता है उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं।

किसी उत्तम स्थान पर पदों के समुदाय को (रखकर) विराजित करके उनको देखकर चित्त को उनके ऊपर जमाना तथा उनके स्वरूप का ध्यान करना और श्रद्धान रखना कि हम शुद्ध होने के लिये इन पदों के द्वारा शुद्धात्माओं का ध्यान करते हैं। इस ध्यान की विशेष व्याख्या ज्ञानार्णव में की है, वहां से जान लेना।

वर्ण (अक्षरों) के ध्यान की विधि

ध्यान करने वाला अपनी नाभि के मध्य एक षोडश पत्र कमल की रचना का ध्यान करे और क्रमशः पत्रों पर निम्न षोडश वर्णों का ध्यान करे। (अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः)

अनन्तर इन पर घूम कर ऊपर फिर २४ पत्र व एक मध्य कर्णिका इस प्रकार पच्चीस पांखुरी का एक कमल हृदय पर विचारे। उन पर क्रमशः (क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, और प फ ब भ म,) ये पच्चीस वर्ण विचारे।

अनन्तर मुख पर अष्ट पत्रों के एक कमल की रचना का विचार करे। कमल का वर्ण श्वेत चिन्तवन करे और आठों पत्रों पर य र ल व, श ष स ह इन आठ अक्षर का ध्यान करे। किन्तु ये आठ अक्षर श्वेत कमल पर पीले वर्ण से लिखे विचारे। यह मूल अक्षर असंयोगी हैं। इस प्रकार का ध्यान श्रुत ज्ञान के संयोग का कारण है। ऐसा श्रद्धान रखे। यह ४६ अक्षरों का अनादि निधन अक्षर मन्त्र है।

ह्रीं बीजाक्षर का ध्यान

(ह्रीं) यह अक्षर साक्षात् परमात्म देव चौबीस तीर्थंकरों का स्मरण कराने वाला है। इस को प्रथम दोनों भौंके बीच चमकता हुआ ध्यान करे। पीछे इस ह्रीं को मुख में प्रवेश कराके अमृत भर रहा है ऐसा ध्यान करे। फिर नेत्रों के पलक को स्पर्श करता हुआ मस्तक के केशों पर चमकता हुआ विचारे। फिर ये आकाश के प्रदेश में चन्द्रमा या सूर्य के विमान लंघन करके अथवा स्वर्गादि को लंघन कर मोक्ष स्थान में पहुंच जाता है ऐसा ध्यान करे।

पंच परमेष्ठी के ध्यान की वर्णमाला एवं विधि

"पणतीस सोल छप्पण चदु दुग मेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥ ४६ ॥ [द्रव्य संग्रह]

अर्थ—पंचपरमेष्ठी के वाचक ३५ अक्षर सोलह अक्षर, छह, पांच, चार, दो और एक इस प्रकार भिन्न २ अक्षर हैं।

इन का पृथक २ विवरण नीचे निम्न प्रकार जानना चाहिए—

(१) पैंतीस अक्षरों का मन्त्र का ध्यान इस प्रकार किया जाता है—

णमो अरहंताण, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसा

(२) सोलह अक्षरों के मन्त्र का ध्यान

अरहंत सिद्ध आयरिया उवज्झाया साहू

(३) छह अक्षरों के मन्त्र पदों का ध्यान

१ अरहंत सिद्ध—नामपद

२ अरहंत साहू—स्थापनापद

३ ॐ नमः सिद्धेभ्यः—भावपद

(४) पांच अक्षरों के पद का ध्यानः—अ, सि, आ, उ, सा,

(५) चार अक्षरों के पद का ध्यान—१ अरहंत (नामपद) २ अ. सि. साहू

(६) दो अक्षरों के पद का ध्यान—१ सिद्ध, २ अ. सि. ३ ओं ह्रीं

(७) एक अक्षर के पद का ध्यान—ॐ

"अरहंत असरीरा आयरिया तह उवज्झाया मुणिणो ।
पढमक्खरणिप्पणो ओंकारो पंचपरमेट्ठी ॥"

अर्थ—अरहंत के आदि का अक्षर (अ),

सिद्ध भगवान् अशरीरी हैं अतः उनका प्रथम अक्षर (अ), आचार्यों का प्रथम अक्षर (आ), उपाध्यायों के प्रथम का अक्षर (उ), साधुओं का (मुनियों का ' प्रथम अक्षर (म्)

इस प्रकार पांच परमेष्ठियों के आदि के अक्षर (अ. अ. आ. उ. और म्) हैं। इन सबकी सन्धि कर देने से 'ओम्' बनता है यह पंच परमेष्ठी का वाचक है।

यह महामंत्र पंचपरमेष्ठी वाचक अनन्त जन्मों के पाप का नाशक है। एवं इन पंचपरमेष्ठी वाचक मंत्रों से ध्यानी अपनी आत्मा को शुद्ध कर लेता है। इस प्रकार पदस्थ ध्यान के करने से भी अभ्यास करते २ चित्त अन्य विचारों से हटकर धर्म्य ध्यान में लीन होजाता है।

इस ध्यान को अभ्यास में लाना अत्यन्त हितकारी है। और भी ध्यान के पदों का वर्णन ज्ञानार्णव में मिलता है वहां से ज्ञात कर लेना चाहिये। इनका अभ्यास आत्महित में अत्यन्त सहायक है। अतः इनका अभ्यास प्रति दिन नियम पूर्वक करना चाहिये।

रूपस्थ ध्यान का स्वरूप

"आर्हन्त्यमहिमोपेतं सर्वज्ञं परमेश्वरं।
ध्यायेत् देवेन्द्रचन्द्रार्कसभान्तस्थं स्वयंभुवम् ॥ ३६ ॥"

अर्थ—रूपस्थ ध्यान में समवशरण की विभुति से युक्त देवेन्द्र चन्द्र और सूर्य आदि से शोभायमान, सभा में सिंहासन पर विराजमान, सर्वज्ञ परमेश्वर का ध्यान किया जाता है। इस का विशेष विवरण इस प्रकार जानना चाहिए।

अरहन्त भगवान का महिमा अर्थात् समवशरणादि रूपरचना युक्त ध्यान करना श्रीमण्डप जिसमें बारह सभायें तथा चतुरनिकाय के देव देवी मुनि आर्यिकायें तथा मनुष्य एवं श्रावक श्राविका तिर्यञ्च सब प्रकार के जीव शान्ति से बैठे हुए हों, जिसमें उसके बीच तीन कटनी पर गंधकुटी हो और उस पर सहस्र दल का कमल और उसकी कर्णिका के ऊपर सिंहपीठ (सिंहासन) पर अन्तरीक्ष चार अंगुल ऊंचे श्री अरहन्त भगवान पद्मासनरूप विराजमान हैं वे भगवान सम्पूर्ण सभा के बीच में हैं। तथा वे अरहन्त भगवान कैसे हैं–सम्पूर्ण अतिशयों से युक्त तथा सर्व दोषों से रहित, करोड़ सूर्य की दीप्ति से भी अधिक प्रकाशमान, सम्पूर्ण जग के जीवों के हितचिन्तक, परमशान्त हैं तथा सप्तधातुओं से रहित परम औदारिक शरीरयुक्त, अचिन्त्य चरित्र वाले, गणधर व मुनिगणों से सेवनीय, स्याद्वादवक्ता, अनेक नयों से निर्णय करने वाले, घातियां कर्मों के नाश होने से अनन्त चतुष्टय अर्थात् (अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तवीर्य और अनन्तसुख) प्राप्त करनेवाले, नव केवललब्धियों के धारक, चन्द्रमा के समान श्वेतछत्र से त्रैलोक्य का प्रभुत्व दर्शाने वाले, और जिनके ऊपर देवकृत ६४ चौंसठ चमर ढुल रहे हैं और भामण्डल की अतुलविभा युक्त, जो दर्शनमात्र से शोक को दूर कर देता है ऐसा अशोक वृक्ष जिनके सामने विद्यमान है, और साढ़े बारह करोड़ जाति के वादित्र जिनके सामने बज रहे हैं एवं मन्द सुगन्ध पवन चल रही है तथा कल्पवृक्षों के पुष्पों की वर्षा हो रही है और जहां पर असंख्यात जीव आकर अपना कल्याण कर रहे हैं और जिनकी दिव्य ध्वनि बिना ओष्ठ और तालु के निकल रही है और समस्त जीव अपनी २ भाषा में मग्न रहे हैं, सब जीव निःशंक एवं जाति विरोध को छोड़कर उपदेशामृत श्रवण कर रहे हैं और भगवान् निश्चय सम्यक्त्व और ज्ञानरूप होते

हुए परम अद्वैतरूप आत्मस्वभाव में लीन हैं, उनको कवि एवं मुनि तथा भक्तजन सहस्र नाम से स्मरण कर रहे हैं—ऐसा चिन्तवनकरें।

सहस्रनामों में से कुछ नाम यहां बताते हैं—

१ अव्यक्त २ कामनाशक ३ अजन्मा ४ अनन्त ५ अतीन्द्रिय ६ जगत्बंधु ७ योगिगम्य ८ महेश्वर ९ ज्योतिर्मय १० अनाद्यनंत ११ सर्वरक्षक १२ योगीश्वर १३ जगद्गुरु १४ अच्युत १५ शान्त १६ तेजस्वी १७ सन्मति १८ सुगत १९ सिद्ध २० जगत्श्रेष्ठ २१ पितामह २२ महावीर २३ मुनिश्रेष्ठ २४ पवित्र २५ परमाक्षर २६ सर्वज्ञ २७ परम दाता २८ सर्व हितैषी २९ वर्धमान ३० निरामय ३१ नित्य ३२ अव्यय ३३ परिपूर्ण ३४ पुरातन ३५ स्वयंभू ३६ हितोपदेशी ३७ वीतराग ३८ निरञ्जन ३९ निर्मल ४० परमगंभीर ४१ परमेश्वर ४२ परमतृप्त ४३ परमामृत पानी ४४ अव्याबाध ४५ निष्कलंक ४६ निजानन्दी ४७ निराकुल ४८ निस्पृह ४९ देवाधिदेव ५० महाशंकर ५१ परब्रह्म ५२ परमात्मा ५३ पुरुषोत्तम ५४ अमर ५५ परमबुद्ध ५६ अशरण शरण ५७ गुणसमुद्र ५८ शिवनार समोही ५९ सकल तत्वज्ञानी ६० आत्मज्ञ ६१ शुक्ल ध्यानी ६२ परम सम्यग्दृष्टि ६३ तीर्थंकर ६४ अनुपम ६५ अनन्त लोकावलोकनधारी ६६ परम पुरुषार्थी ६७ कर्मपर्वतचकचूरकवज्र ६८ विश्वज्ञाता ६९ निरावरण ७० स्वरूपाशक्त ७१ शुक्लागमी ७२ कृतकृत्य ७३ परमसंयमी ७४ परमाप्त ७५ स्नातकनिर्ग्रंथ ७६ सयोगिजिन ७७ परमनिर्जरारूढ ७८ ७९ परमसंवर पति ७९ आस्रवनिर्वारक ८० शुद्ध जीव ८१ गणधर नायक ८२ मुनिगण श्रेष्ठ ८३ तत्ववेत्ता ८४ आत्मरमी ८५ मुक्तिनारी भर्ता ८६ परमवैरागी ८७ परमानन्दी ८८ परम तपस्वी ८९ परम क्षमावान् ९० परम सत्यधर्मारूढ ९१ परमशुचि ९२ परमत्यागी ९३ अद्भुत ब्रह्मचारी ९४ शुद्धोपयोगी ९५ निरालम्ब ९६ परमस्वतन्त्र ९७ निर्वैर ९८ निर्विकार ९९ आत्मदर्शी १०० महाऋषि १०१ परमाकिंचन १०२ जगदीश १०३ आदिनाथ १०४ विष्णु १०५ ब्रह्मा १०६ महेश १०७ ईश्वर १०८ जिनेन्द्र १०९ आप्त ११० परमब्रह्म १११ निष्कल इत्यादि अरहन्त के नाम हैं।

इस प्रकार विचार कर परम वीतराग स्वरूप में चित्त लगा देना एवं बार २ देख कर उनमें परम लीन हो जाना एवं अपनी आत्मा का तद्रूप अर्थात् अरहन्त एवं सर्वज्ञ सर्वदर्शी मानना ही रूपस्थ ध्यान है। कहा भी है—

"एषो देवः स सर्वज्ञः सोऽहं तद्रूपतां गतः।
तस्मात् स एवं नान्योहं विश्वदर्शीति मन्यते ॥"

अर्थ—जिस समय आत्मा अपने को सर्वज्ञ स्वरूप देखने लगता है उस समय वह ऐसा मानता है कि जो देव है, वह मैं ही हूं। जो सबका ज्ञाता सर्वज्ञ है वह मैं ही हूं, और दूसरा नहीं है।

इस प्रकार मैं ही साक्षात् अरहंत स्वरूप वीतराग हूं एवं परमात्मा हूं। इस प्रकार भावना करके उसमें स्थिर हो जाना ही रूपस्थ

ध्यान है। इस प्रकार अरहंत परमात्मा का ध्यान करने से निज आत्मा का ध्यान होता है।

रूपातीत ध्यान का स्वरूप

"मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मिरओ इणमेव परं हवे झाणं ॥" [द्रव्य संग्रह]

"व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शांतमच्युतं।
चरमाङ्गात्कियन्न्यूनं स्वप्रदेशघनैः स्थितं ॥ २२ ॥
लोकाग्रशिखरासीनं शिवीभूतमनामयम्।
पुरुषाकारमापन्नमप्यमूर्तञ्च चिन्तयेत् ॥ २३ ॥
निष्कलस्य विशुद्धस्य निष्पन्नस्य जगद्गुरोः।
चिदानंदमयस्योच्चैः कथं स्यात्पुरुषाकृतिः ॥ २४ ॥ [ज्ञानार्णव अध्याय ४०]

पूर्वोक्त रूपस्थध्यान से जिस व्यक्ति का चित्त स्थिर हो गया वह प्राणी इस रूपातीत ध्यान को कर सकता है।

ध्यानी अपने मन को निम्न प्रकार से समझावे कि तू कुछ भी चेष्टा मतकर, कुछ वचन मत बोल और न कुछ चिन्तवन कर। आत्मा में लीन होकर स्थिर होजा। इस ध्यान के स्थिर करने के लिये निम्नलिखित प्रयोग करना चाहिए।

आकाश के अर्थात् अमूर्त अनाकार अर्थात् पुद्गल के आकार से रहित जिसमें किसी प्रकार की हीनाधिकता न हो, क्षोभरहित, एवं जो अपने रूप से कभी च्युत न हो, चरम शरीर से किञ्चित् न्यून, नाशिकादि रन्ध्रप्रदेशों से हीन, अपने घनीभूत प्रदेशों से स्थित, शिवीभूत—अर्थात् अकल्याण से कल्याण रूप को प्राप्त हुई, रोगादि पीड़ा रहित, पुरुषाकार होकर भी अमूर्त, गन्धस्पर्श आदिक से रहित, सिद्ध का ध्यान रूपातीत ध्यान है।

जो परमात्मा निष्कल (देहरहित), विशुद्ध अर्थात् द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म से रहित है, जिसमें किसी प्रकार की हीनाधिकता भी नहीं है, जगद्गुरु, चैतन्यस्वरूप है, उसके ध्यान को रूपातीत ध्यान कहते हैं। और भी विशेष निम्न प्रकार जानना चाहिए।

"बिन्दुहीनं कलाहीनं रेफद्वितीयवर्जितम् ।
अनक्षरत्वमापन्नमनुच्चार्यं विचिन्तयेत् ॥ १ ॥
चन्द्ररेखासमं सूक्ष्मं स्फुरन्तं भानुभास्करं ।
अनाहताभिधं देवं दिव्यरूपं विचिन्तयेत् ॥ २ ॥"

अर्थ—रूपातीत ध्यान में विन्दु (ँ) अर्थात् चन्द्र विन्दु से रहित कला अर्थात् मात्रा से रहित तथा रेफ और हकार से भी वर्जित अनक्षर-रूप परम ब्रह्म का ध्यान किया जाता है।

रूपस्थ ध्यान में चन्द्र रेखा के समान विन्दु (ँ) अर्थात् अर्ध विन्दु सहित सूक्ष्म सूर्य के समान देदीप्यमान हँ का साक्षर, ध्यान किया जाता है ।

रूपातीत ध्यान, क्योंकि रूपस्थ के बाद की कोटि है, अतः प्रथम रूपस्थ में (हँ) साक्षर ध्यान होता है फिर निरक्षर ध्यान रूपातीत में किया जाता है।

जो इस प्रकार ध्यान करने में असमर्थ हो वह प्रथम सिद्ध स्वरूप का ध्यान करे जो कि अमूर्तिक चैतन्य पुरुषाकार कृतकृत्य है और अपनी आत्माको सिद्ध मान कर ही ध्यावे। ऐसा ध्यान करे कि मैं ही परमात्मा हूँ, मैं ही सर्वज्ञ हूँ और मैं ही कृतकृत्य, विश्वविलोकी निरञ्जन, स्थिरस्वभाव, परमानन्द भोगी, कर्म रहित, वीतराग, परम शिव और परम ब्रह्म हूँ। इस प्रकार ध्यान करते २ द्वैत से अद्वैत होजावे, इसी को रूपातीत ध्यान कहते हैं।

विपाक विचय धर्म्यध्यान का स्वरूप

सविपाक इति ज्ञेयो यः स्वकर्मफलोदयः ।
प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूपः शरीरिणाम् ॥
प्रशमादिसमुद्भूतो भावः सौख्याय देहिमान् ।
कर्मगौरवजः सोऽयं महाव्यसनमन्दिरम् ॥ ६ ॥

स्रक्शय्यासनयानवस्त्रवनितावादित्रमित्राङ्गजान् ।
कर्पूरागुरुचन्द्रचन्दनवनक्रीडाद्रिसौधध्वजान् ॥
मातङ्गाश्च विहङ्गचामरपुरीभक्ष्यान्नपानानि वा ।
छत्रादीनुपलभ्य वस्तुनिचयान् सौख्यं श्रयन्तेऽङ्गिनः ॥ ३ ॥
प्रासासिक्षुरयन्त्रपन्नगगरव्यालानलोग्रग्रहान् ।
शीर्णाङ्गान्कृमिकीटकण्टकरजःक्षारास्थिपङ्कोपलान् ॥
काराशृङ्खलशङ्कुकाण्डनिगडक्रूरारिवैरांस्तथा ।
द्रव्याण्यवाप्य भजन्ति दुःखमखिलं जीवा भवाब्धिस्थिताः ॥ ५ ॥
मूलप्रकृतयस्तत्र कर्मणामष्टकीर्तिताः ।
ज्ञानावरणपूर्वास्ता जन्मिनां बन्धहेततः ॥ १० ॥ [ज्ञानार्णव]

अर्थ—प्राणियों के अपने उपार्जन किये हुए कर्मके फल का जो उदय होता है वह विपाक नाम से कहा है, सो वह कर्मोदय क्षण क्षण उदय होता है और ज्ञानावरणादि भेद से अनेक रूप है।

जो कर्म के उपशमादिक से उत्पन्न हुआ भाव है वह जीवों के सुख के लिये है और जो कर्म के तीव्र गुरुपना से उत्पन्न हुआ भाव है वह महान् कष्ट कारक है।

जीवों के कर्मों का समुदाय निश्चित द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप चतुष्टय को प्राप्तकर इसलोक में अनेक प्रकार से अपने नामानुसार फल को देता है जैसे (ज्ञानावरण-ज्ञान को आच्छादित करता है) इत्यादि अन्य कर्म का भी इसी प्रकार फल समझना चाहिये।

जब जीव के किये हुए शुभ कर्म तीव्ररूप से उदय में आते हैं तब जीव पुष्पमाला, सुन्दर शय्या, आसन, पान, वस्त्र, स्त्री, बाजे, मित्र, पुत्रादिक तथा कर्पूर, अगरु, चन्द्रमा, चन्दन, वनक्रीड़ा, पर्वत, महल, ध्वजादिकों का तथा हस्ती, घोड़े, पक्षी, चमर, नगरी, एवं खाने योग्य अन्न पानादिकों का तथा छत्र आदिक चिह्नों से राज्य अवस्था, श्रीमान्‌पना एवं बुद्धिमत्ता आदि प्राप्त कर सुख प्राप्त करता हुआ आनन्द मानता है।

जब असाता वेदनीय एवं दु कर्मों का तीव्र उदय आता है, तब संसार रूप मार्ग में रहते हुए यह जीव सेल, तलवार, छुरा, यन्त्र बन्दूक आदि शस्त्र और सर्प, विष, दुष्टहस्ती, अग्नि, तीव्र खोटे ग्रहादिक को तथा दुर्गन्धित सडे हुए अंग, लट, कीडे, कांटे, रज, क्षार, अस्थि, कीच, पाषाणादिक को तथा बंदीखाना (जेल खाना] सांकल कीला, कांड, बेडी, क्रूर, (दुष्ट) वैरी वैर इत्यादि द्रव्यों को प्राप्त होकर दुख को भोगता है

कर्मों की मूल प्रकृति ज्ञानवरणादिक आठ हैं, वे जीवों के बंधन की कारण हैं।

"मन्दवीर्याणि जायन्ते कर्माण्यतिबलान्यपि।
अपक्वपाचनायोगात् फलानीव वनस्पतेः ॥ २६ ॥
विलीनाशेषकर्माणि स्फुरन्तमतिनिर्मलम्।
स्वंततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ॥ २६ ॥ [ज्ञानार्णव अध्याय ३५]

अर्थ—पूर्वोक्त आठ कर्म अतिशय बलिष्ठ हैं तथापि शांति भाव (ध्यान) ऐसी वस्तु है जिस प्रकार वनस्पति (वृक्ष) के विना पके फल भी पवन के मिमित से अथवा पाल के निमित्त से जिस प्रकार पकालिये जाते हैं, उसी प्रकार इन कर्मों की स्थिति पूरी होने से प्रथम ही इनको तपश्चरणादिकों से मन्द वीर्य एवं असमय पर पके हुए फल के समान पका लिया जाता है।

उक्त वधान से, कर्मों की निर्जरा द्वारा विलय हुए हैं समस्त कर्म जिसके, ऐसा स्फुरायमान निर्मल पुरुषाकार स्वरूप अपने अंग में ही प्राप्त हुए आत्मा को स्मरण करता रहे। इस प्रकार के कर्त्तव्यों से कर्मों के विपाक का अनुभव व रस कम होजाता है। यह ही विपाक विचय धर्म्य ध्यान है। इस प्रकार विपाक विचय धर्म्य ध्यान का वर्णन किया।

ज्ञानावरणादि कर्म जीवों के अपने तथा पर के उदय में निरन्तर आते रहते हैं इसका नाम विपाक है। इसके चिन्तवन करने से परिणाम विशद्ध होजाने पर कर्मों के नाश करने का उपाय करे तब मोक्ष होती है, अन्यथा नहीं होती।

संस्थान विचय धर्म्यध्यान का स्वरूप

अब संस्थान विचय धर्म्य ध्यान का बयान करते हैं। जिसमें लोक का स्वरूप तथा पर्यायों का स्वरूप विचारा जाता है।

अनंतानंतमाकाशं सर्वतः स्वप्रतिष्ठितं ।
तन्मध्येऽयं स्थितो लोकः श्रीमत्सर्वज्ञवर्णितः ॥ १ ॥
ऊर्ध्वाधोमध्यभागैर्यो बिभर्ति भुवनत्रयम् ।
अतःस एव सूत्रज्ञैस्त्रैलोक्याधार इष्यते ॥ ३ ॥
अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः ।
सप्तैकपञ्चचैका च मूलमध्यान्तविस्तरे ॥ ८ ॥
मिथ्यात्वाविरतिक्रोधध्यानपरायणाः ।
पतन्ति जन्तवः श्वभ्रे कृष्णलेश्यावशंगताः ॥ १५ ॥
अविद्याक्रान्तचित्तेन विषयान्धीकृतात्मना ।
चरस्थिरांगिसंघातो निर्दोषोऽथ हतोमया ॥ ३५ ॥ [ज्ञानार्णव अ. ३६]

अथ—ध्यानी आत्मा संस्थान विचय धर्म्य ध्यान में यह विचारे कि यह आकाश स्वप्रतिष्ठित अर्थात् अपने ही आधार है। क्योंकि इससे बड़ा कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, जो इसका भी आधार हो सके। उस आकाश के मध्य में यह लोक स्थित है। यह ऊर्ध्व मध्य अधः इस प्रकार तीन भुवन को धारण करता है। अधोलोक वेत्रासन के आकार है। मध्यलोक झालर के आकार है। उसके ऊपर ऊर्ध्व लोक मृदंग के आकार है। इस प्रकार तीन लोक की रचना है। अधोभाग में निगोद नारकी जीव, व्यन्तर तथा भवन वासी देवों के आवास हैं। मध्यलोक में तिर्यक् लोग भी रहते हैं। इसमें मनुष्य तिर्यञ्च तथा ज्योतिषी देव रहते हैं। ऊर्ध्वलोक में कल्पवासी तथा अहमिन्द्र देव रहते हैं। इसी के ऊपर के भागमें सिद्ध लोक है। जहाँ पर सब कर्मों से मुक्त होकर शुद्ध चैतन्य रूप निराकार सिद्ध भगवान विराजते हैं।

अधोभाग में जो नरक है उसमें मिथ्यात्व, अविरति, क्रोध तथा रौद्र ध्यान में तत्पर, कृष्ण लेश्या के वशमें होकर प्राणी नरक में पड़ते हैं। वहां पर पलक लगने मात्र भी जीव को सुख नहीं मिलता। एक समय में ५६८६९५८४ रोगों की उत्पति के दुःख भोगने पड़ते हैं। बड़े पुण्य के उदय से जब तीर्थङ्कर देव का जन्म होता है तब वह जीव अन्तमुहूर्त के लिये साता का अनुभव करते हैं। बाकी मार काट के सिवा वहां दूसरा कार्य ही नहीं है। वहाँ का दुख अकथनीय है। उस वेदना को या तो भोगने वाला अनुभवी ही जानता है या सर्वज्ञ ही देव जानता है।

अब २ नारकी जीव विचारते हैं कि हमने अविद्या के आवेश में आक्रान्त चित्त होकर या विषयों में अन्ध होकर निर्दोष धर्म को

छोड़कर कषाय के वशवर्ती होकर, दीन त्रस और स्थावरों की हिंसा की है उसका ये फल भोग रहे हैं। इत्यादि जब विचारते हैं तब धर्म्य ध्यान के प्रभाव से आत्मा को शान्ति लाभ होता है।

इसी प्रकार मध्य लोक की सब दशा और उसमें रहने वाले मनुष्य तिर्यञ्च आदि जीवों का विचार किया जाता है तब उनकी वेदना के विचार करने से जो शरीर का रोम २ थर थर कांपने लगता और कर्म के वशी जीवों के दुःख का अनुभव होने लगता है। एवं विचार हो जाता है कि हमने भी जो कर्म हंस २ कर पैदा किये हैं उनका फल हमको भी रोरो कर भोगना पड़ेगा।

इसी प्रकार देव पर्याय में (भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी, भी जीव अनेक दुःखों से दुःखी है उनके दुःखों को भी विचारें तो शान्ति और स्थिरता नहीं मिलती। क्योंकि जहां देखते हैं वहां ही पर राग द्वेष परिणति की बहुलता देखी जाती है। जब ऊर्ध्वलोक की यह दशा है तो संसार में कहीं पर शान्ति नहीं मिल सकती। सुख केवल निराकुलता में ही है, और निराकुलता मोक्ष में है। अतः मोक्ष में ही सुखोपलब्धि होसकती है, और मोक्ष ध्यान से मिलती है। इस प्रकार संस्थान विचय में चिन्तवन करना एवं आत्मा को शान्तिलाभ और निराकुल बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। अतः मोक्षाभिलाषियों को ध्यान करना आवश्यक है। कर्मों को काटने की सामर्थ्य ध्यान में है।

कहा भी है—

"ध्यानेन विना योगी, असमर्थो भवति कर्मनिर्दहने।
दंष्ट्रानखरविहीनो यथासिंहो वरगजेन्द्राणां ॥ ७ ॥ [ज्ञानार्णव]

अर्थ—योगीजन ध्यान विना अपने मनोवाञ्छित फल अर्थात् आत्म-सिद्धि को कदापि नहीं प्राप्त कर सकते और अनादि कालीन कर्मों की सत्ता का एवं उदय का ही अभाव कर सकते हैं। जैसे नख और दाढ़ रहित कैसा ही केशरीसिंह क्यों न हो वह गजेन्द्रों का मद नहीं उतार सकता, उसकी प्रकार योगी भी संसार के चक्र में अपनी आत्मा को कर्म के प्रभाव से नहीं बचा सकता। इसलिये ध्यान का अभ्यास करके अपनी आत्मा को बलिष्ठ बनाना सर्व प्रथम कर्तव्य है। संसार में जितनी भी सिद्धियां प्राप्त होती हैं वे सब ध्यान के प्रभाव से ही होती हैं। ध्यान से कर्मों पर विजय करके अरहन्त एवं सिद्ध पद तथा निर्वाण की प्राप्ति की जाती है, अन्यथा नहीं।

कहा भी है—

"प्रतिक्षणं द्वन्द्वशतार्तचेतसां नृणां दुराशाग्रहपीडितात्मनां।
नितम्बिनीलोचनचोरसंकटे गृहाश्रमे स्वात्महितं न सिद्ध्यति ॥

निरन्तरार्तानलदाहदुर्गमे कुवासनाध्वान्तविलुप्तलोचने ।
अनेकचिन्ताज्वरजिह्मितात्मनां नृणां गृहे नात्महितं प्रसिद्ध्यति ॥

अर्थ—सैंकड़ों प्रकार के कलहों से दुःखित, धनादिक की दुराशारूपी पिशाचिनी से पीड़ित मनुष्य को प्रतिक्षण स्त्रियों के नेत्र रूपी चोरों के उपद्रव सहित गृहस्थाश्रम में आत्म हितकारक धर्म्यध्यान कैसे हो सकता है ?

निरन्तर पीड़ारूप आर्तध्यानों की अग्नि के दाह से दुर्गम, बसने के अयोग्य कुवासनारूप अन्धकार से ज्ञान नेत्र को आच्छादित करने वाले, अनेक चिन्तारूपी ज्वर से पीड़ित आत्मा वाले मनुष्यों को घर में आत्महित सिद्ध नहीं हो सकता ।

यद्यपि यह धर्म्यध्यान चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थानवर्ती महाव्रती तक होता है किन्तु यह बात अवश्य है कि यह गृहस्थावस्था में पूर्ण रीति से नहीं बनता । क्योंकि गृहस्थ में आर्तध्यान की बहुलता रहती है । अतः इसकी पूर्णता तो मुनिमार्ग में ही पाई जाती है । किन्तु इसकी पात्रता गृहस्थ में भी है, इसका पूर्ण विकाश सप्तमगुणस्थान में हो जाता है और उससे शुक्ल ध्यान की प्राप्ति भी होजाती है और शुक्ल ध्यान का साक्षात् फलमोक्ष है, किन्तु कारण विशेष से कल्पवासी एवं कल्पातीत देवों में होता है, इसका यह गौण फल है । यह शुक्ल ध्यान का माहात्म्य है ।

यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव हो और उपशमश्रेणी मांडे तो ग्यारहवें गुणस्थान जाकर पीछा आजावे और फिर संभल कर यदि क्षायिकश्रेणी मांडे तो केवल ज्ञान उत्पन्न हो जावेगा । यदि उपशम सम्यग्दृष्टि श्रेणी मांडे तो नियम से ११ ग्यारहवें गुण स्थान में ही जावे । और वहां से गिरकर मरण करे तब जिस अवस्था में आयुकर्मबांधा होवे उसही गुणस्थान में आकर मरण करे और कम से कम एक भव और ज्यादा से ज्यादा अर्ध पुद्गल परावर्तन वह जीव संसार में भ्रमण करके नियम से मोक्ष चला ही जावेगा । मध्यस्थभावों के असंख्यात भेद हैं ।

प्राणायाम की विधि

यहां थोड़ासा प्राणायाम का भी खुलासा करते हैं क्योंकि किसी मुमुक्षु को शरीर की शुद्धि के लिये इसकी भी आवश्यकता होती है ।

शरीर की शुद्धि तथा मन को एकाग्र करने लिये प्राणायाम का अभ्यास सहायक अवश्य होता है परन्तु इसे आत्मोन्नति का प्रधान कारण आचार्यों ने नहीं माना है । फिर भी इसकी जिन्हें आवश्यकता हो उनके लिये ज्ञानार्णव के अनुसार संक्षेप में उल्लेख करते हैं ।

"संविग्नस्य प्रशान्तस्य वीतरागस्य योगिनः ।
वशीकृताक्षवर्गस्य प्राणायामो न शस्यते ॥ ८ ॥ [ज्ञानार्णव अध्याय ३०]

अर्थ—जो मुनि संसार देह और भोगों से विरक्त है कषाय जिसकी मन्द होगई है, विशुद्ध भावों से युक्त है, वीतराग और जितेन्द्रिय है, ऐसे योगी को प्राणायाम की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इससे कभी कभी आत्मकष्ट होने की संभावना हो जाती है।

क्योंकि—

प्राणस्यायमने पीड़ा तस्यां स्यादार्तसंभवः ।
तेन प्रचाव्यते नूनं ज्ञाततत्त्वोऽपि लक्ष्यतः ॥ ९ ॥ [ज्ञानार्णव अ० ३०]

अर्थ—प्राणायाम में प्राणों (श्वासोच्छ्वास रूप पवन) का आयमन कहिये संकोचन से पीड़ा होती है और उस पीड़ा से आर्तध्यान उत्पन्न होता है और उस आर्तध्यान से तत्वज्ञानी मुनि भी अपने लक्ष्य (समाधि स्वरूप शुद्ध भावों से) छूट जाता है। अर्थात् वह आर्तध्यान समाधि से भ्रष्ट कर देता है।

आचार्यों ने प्राणायाम के तीन भेद माने हैं। १ पूरक २ कुम्भक ३ और रेचक—

१. तालु के छेद से द्वादश अंगुलपर्यन्त वायु को खींचकर अपने शरीर में इच्छानुकूल भरने को पूरक कहते हैं।

२. उस खींची हुई पवन को नाभिकमल के स्थान पर रोके, जिससे अन्य जगह. नहीं चलने देवे। जैसे घड़े को भरते हैं वैसे भरे उसको कुंभक कहते हैं।

३. भरी हुई पवन को अपने कोठे से धीरे २ बाहर निकालने का नाम रेचक है।

अभ्यास करने वाले को चाहिये कि वह पवन को भीतर लेकर थामने का, फिर धीरे २ तालुवे के द्वारा बाहर निकालने का पूरीतौर से नियमानुसार प्रयत्न करे तो अधिक देर तक श्वासोच्छ्वास को रोकेगा वह अधिक देर तक मन को रोक सकेगा।

प्राणायाम में चार प्रकार के मण्डल होते हैं:—(१) पृथ्वी मण्डल (२) जल मण्डल (३) पवन मण्डल (४) अग्नि मण्डल।

१. पृथ्वी मण्डल—नासिका के छिद्रों को भले प्रकार भर कर कुछ-उष्णता लिये आठ अंगुल बाहर निकालता हो, स्वस्थ चपलता रहित, मंद मंद बहता, पीलेरंग को लिये हुए हो ऐसा पृथ्वीमण्डल का पवन जानना चाहिये। इसका आकार चौकोर होता है।

२. जलमण्डल—जो त्वरित कहिये शीघ्र बहने वाला कुछ निचाई को लिये हुए बहता हो शीतल उज्वल चन्द्रमा के समान शुक्ल दीप्त हो, बारह अंगुल बाहर आवे ऐसे पवन को जल मण्डल कहते हैं।

३. पवन मण्डल—जो नीलेरंग का गोल, सब तरफ तिर्यक बहता हो, विश्राम न लेकर निरन्तर बहता ही रहे, तथा छै अंगुल बाहर आवे, कृष्णवर्ण, शीत तथा उष्ण हो, इस प्रकार के पवन को पवनमण्डल कहते हैं।

४. अग्नि मण्डल—जो उगते सूर्य के समान रक्त वर्ण हो। ऊंचा चलता हो, त्रिकोण आकार हो, आवर्तों (चक्रों) सहित फिरता हुआ ऊपर को आवे, चार अंगुल बाहर आवे, अति उष्णता सहित हो, ऐसा पवन-अग्नि मण्डल कहलाता है

नासिका द्वारा श्वासोच्छ्वास संचार एवं कर्षण को प्राणायाम कहते हैं। नासिका के दो छिद्र हैं, १ बांई ओर २ दूसरा दाहिनी ओर।

(१) बाईं तरफ वाले स्वर को पिंगला (चन्द्र) नाडी कहते हैं। मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा द्वितीया तृतीया इन दिनों में सूर्योदय समय यह स्वर चलना शुभ है। फिर सप्तमी अष्टमी नवमी सम्बन्धी तीन दिन छोडकर चले तो भी शुभकारी है।

(२) दाहिनी तरफ वाले स्वर को इडा (सूर्य) स्वर कहते हैं। मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया इन दिनों में तथा सप्तमी अष्टमी और नवमी इन तीन दिनों में सूर्योदय पर इस स्वर का चलना शुभ है।

ऊपर लिखे अनुसार दिन भर न चल कर सूर्योदय से यदि एक मुहूर्त (दोघडी) भी चलता रहे और फिर बदल भी जावे तो भी शुभ है। परन्तु इससे विरुद्ध स्वर चले तो अशुभ है। बायें स्वर को हितकर तथा दाहिनी को अहितकर बताया है।

कहा भी है—

"वामा सुधामयी ज्ञेया हिता शश्वच्छरीरिणाम्।
संहर्त्रीदक्षिणा नाडी समस्तानिष्टसूचिका ॥ ४२ ॥

अमृतमिव सर्वगात्रं प्रीणयति शरीरिणां ध्रुवं वामा ।
क्षपयति तदेव शश्वद्वहमाना दक्षिणा नाड़ी ॥ ४४ ॥ [ज्ञानार्णव अध्याय ३६]

अर्थ—जीवों के लिये चन्द्र स्वर अमृतमयी सदा हितकारी है और सूर्यस्वर अहितकर अनिष्ट है।

वाम नाड़ी निरन्तर बहती हुई जीवों के समस्त शरीर को अमृत के समान तृप्त करती है और दाहिनी नाड़ी बहती हुई सदा शरीर को क्षीण करती है।

आगे उल्लिखित पृथ्वी मण्डल आदि चार मण्डलों के पवन के ज्ञान के लिये अन्य एक सरल रीति बताते हैं।

अपने दोनों कानों को दोनों हाथों के अंगूठे से बंद कर लेवें। और दोनों आंखों को अंगूठे की पास की दोनों अंगुलियों से बन्द करे और नाक के दोनों स्वरों को दोनों मध्यमा अंगुलियों से दबावे। फिर मुख को दोनों हाथों की जो दो दो अंगुलियां बची हैं उनसे दबावेवे पश्चात् अपने मन के द्वारा देखे तब विन्दु दिखाई पड़ेंगे।

(१) यदि पीली विन्दु दिखाई पड़े तो पृथ्वी मण्डल समझना।। (२) यदि श्वेत विन्दु दिखाई देवे तो जल मण्डल समझना। (३) यदि लाल विन्दु दिखाई देवे तो अग्नि मण्डल समझना। (४) यदि नीले विन्दु दिखाई पड़े तो पवन मण्डल समझना।

इन चारों मण्डलों में से जब पृथ्वी मण्डल वा जल मण्डल होवे तब शुभ कार्यों को करना उचित है, पृथ्वी और जल तत्व के पवन बायें स्वर से निकलते हों तो कार्य सिद्धि के सूचक हैं।

अग्नि मण्डल व पवन मण्डल दाहिने स्वर से निकले तो अशुभ सूचक हैं। अग्नि व वायु मण्डल बांई तरफ से बहें अथवा पृथ्वी व जल मण्डल दाहिने स्वर से बहें तो मध्यम फल के सूचक हुआ करते हैं।

यदि किसी को स्वर बदलने की जरूरत हो तो जिस तरफ का स्वर चलता हो उस तरफ के स्वर और अंग को दबाने से स्वर अवश्य बदल जाता है अर्थात् दूसरी तरफ का चलने लग जाता है।

स्वरों द्वारा ह्रीं मंत्र के ध्यान की विधि

स्वरों के द्वारा ह्रीं मन्त्र के ध्यान की विधि नीचे लिखे अनुसार है। इससे स्वर शुद्ध हो जाता है।

सब से प्रथम नाभि कमल के मध्य में 'र्हं' को चन्द्रमा के समान चमकता विचारे। फिर उसको दाहिने स्वर से बाहिर निकाले और चमकता हुआ आकाश में ऊपर की तरफ चला जावे और फिर लौटावे तथा बायें स्वर से भीतर प्रवेश करावे। और नाभि कमल में ले जाकर ठहरा देवे।

यह प्राणायाम की विधि उन पुरुषों को लाभकारी है जिनका चित्त कभी स्थिर नहीं होता है, सदा चलायमान रहता है। स्थिर चित्त वालों को इस प्राणायाम की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह प्राणायाम आर्त रौद्र का भी कारण हो जाता है यह ऊपर बताया जाचुका है। इसका विशेष स्वरूप ज्ञानार्णव से जान लेना।

शुक्ल ध्यान का स्वरूप

अब शुक्लध्यान का वर्णन करते हैं जिसके ध्याता मुनि ही होते हैं। कहा भी है—

"आदिसंहननोपेतः पूर्वज्ञः पुण्यचेष्टितः।
चतुर्विधमपि ध्यानं स शुक्लं ध्यातुमर्हति ॥ ५ ॥
छद्मस्थयोगिनामाद्ये द्वे तु शुक्ले प्रकीर्तिते।
द्वे त्वन्येक्षीणदोषाणां केवलज्ञानचक्षुषाम् ॥ ७ ॥ [ज्ञानार्णव अध्याय ४२]

अर्थ—जिस मुनि को प्रथम वज्रवृषभनाराच संहनन हो, ग्यारह अंग चौदह पूर्व का ज्ञाता हो और चारित्र की पूर्ण शुद्धता हो वह मुनि इस शुक्ल ध्यान के चारों भेदों को धारण करने में समर्थ हो सकता है।

शुक्लध्यान के १ पृथक्त्ववितर्कवीचार २ एकत्ववितर्कवीचार ३ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ४ व्युपरतक्रियानिवृत्ति ये चार भेद हैं। इनमें प्रथम के दो भेद अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क येतो छद्मस्थ अर्थात् बारहवें गुण स्थानवर्ती प्राणी के पाये जाते हैं और अन्त के दो भेद रागादिक से सर्व रहित सेवक ज्ञानियों के ही पायें जाते हैं।

तत्र त्रियोगिनामाद्यं द्वितीयं त्वेकयोगिनां।
तृतीयं तनुयोगानां स्यात्तुरीयमयोगिनाम् ॥ १२ ॥ [ज्ञानार्णव]

अर्थ—चार प्रकार के शुक्ल ध्यान में प्रथम पृथक्त्व वितर्कवीचार मन वचन और काय इन तीनों योगवाले मुनियों के होता है क्योंकि इसमें योग पलटते रहते हैं।

२ द्वितीय एकत्ववितर्क वीचार किसी एक योग से ही होता है, क्योंकि इसमें योग नहीं पलटते। योगी जिस योग में लीन है वह ही योग बना रहता है।

३ तृतीय सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती केवल काय योग वालों के ही होता है क्योंकि केवली भगवान के काय योग मात्र की ही सूक्ष्म क्रिया है शेष दो योगों की क्रिया नहीं है।

४ चतुर्थ—व्युपरत क्रिया निवृत्ति या समुच्छिन्न क्रिया नाम शुक्ल ध्यान अयोग केवली भगवान् के होता है क्योंकि अयोग केवली के योगों की क्रिया का सर्वथा अभाव है।

यह ध्यान का तीसरा और चौथा पाया निश्चय से भगवान् के उपचार से होता है।

"दृग्बोधरोधकद्वन्द्वं मोहविघ्नस्य वा परम्।
सः छिणोति क्षणादेव शुक्लधूमध्वजार्चिषा ॥ २६ ॥ [ज्ञानार्णव]

अर्थ—शुक्ल ध्यान के प्रथम भेद से मोहनीय का नाश या उपशम होता है तथा दूसरे ध्यान रूप अग्नि की ज्वाला से दर्शन और ज्ञान के आवरण करने वाले दर्शनावरण ज्ञानावरण तथा मोहनीय और अन्तराय कर्म क्षण मात्र में ही नष्ट हो जाते हैं और अत्यन्त उत्कृष्ट केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त कर जीव अर्हन्त हो जाता है। यह अलब्ध पूर्व अर्थात् जो कभी पहले प्राप्त नहीं किया वह भाव है। केवलज्ञान भावमुक्ति का स्वरूप है।

"इन्द्रचन्द्रार्कभोगीन्द्रनरामरनतक्रमः।
विहरत्यवनीपृष्ठं सशीलैश्वर्यलाञ्छितः ॥
उन्मूलयति मिथ्यात्वं द्रव्यभावमलं विभुः।
बोधयत्यपि निःशेषं भव्यराजीवमण्डलम् ॥"

अर्थ—इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, धरणेन्द्र, नरेन्द्र, देवेन्द्र, तथा तिर्यञ्चों द्वारा जिनके चरण कमल सेवनीय है ऐसे केवली भगवान् अठारह हजार १८००० शील के भेद तथा चौरासी लाख ८४००० उत्तर गुण और समवशरण रूप आश्चर्य एवं अतिशय से युक्त होकर पृथ्वी तल में विहार करके जीवों के द्रव्यमल और भावमल रूप मिथ्यात्व कर्म को जड़ से नाश करते हैं। समस्त भव्य जीव रूप कमलों के समूह को विकसित करते हैं और जीवों के मिथ्यात्व को दूर कर के उनको मोक्ष मार्ग में लगाते हैं।

"षण्मासायुषि शेषे संवृत्ता ये जनाः प्रकर्षेण ।
ते यान्ति समुद्घातं शेषाः भाज्याः समुद्घाते ॥ ४२ ॥
सूक्ष्मक्रियं ततो ध्यानं सः साक्षात् ध्यातुमर्हति ।
सूक्ष्मैककाययोगस्थस्तृतीयं यद्धि पठ्यते ॥ ५१ ॥
तस्मिन्न् वक्षणे साक्षादाविर्भवति निर्मलं ।
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः ॥ ५३ ॥
अवरोधविनिर्मुक्तं लोकाग्रं समये प्रभुः ।
धर्माभावे ततोऽप्यर्धगमनं नानुमीयते ॥ ६० ॥ [ज्ञानार्णव]

अर्थ—जो जिनदेव छहमहिने की उत्कृष्टपने से आयु अवशेष रहते हुए केवली हुए हैं वे अवश्य समुद्घात करते ही हैं और जो छह महिने से अधिक आयु रहते हुए केवली होते हैं उनके कोई नियम नहीं, समुद्घात करें भी या नहीं भी करे, वे समुद्घात विकल्पी है।

केवली भगवान के जो ध्यान माने हैं सो सब उपचार मात्र भूतपूर्वनय की अपेक्षा हैं। वे केवली भगवान् त्रयोदश गुणस्थान वर्ती सूक्ष्मक्रियाध्यान को साक्षात् ध्याते हैं। सूक्ष्म एक काय योग में स्थित हुए उसका ध्यान करते हैं। यही सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान है।

जब सयोग केवली ध्यान से योगों का सवथा नाश करके अयोग हो जाते हैं तब अयोग गुणस्थान के उपान्त अर्थात् अन्त समय के पहले समय में देवाधिदेव के मुक्ति रूपी लक्ष्मी के प्रति बन्धक कर्मों की ७२ बहत्तर प्रकृतियां शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं। तत् पश्चात् भगवान् अयोग परमेष्ठी के उसी अयोग गुणस्थान के उपान्त समय के मध्य साक्षात निर्मल ऐसा समुच्छिन्न क्रिया नामक चौथा शुक्ल ध्यान

प्रकट होता है। तत्पश्चात् वीतराग अयोगकेवली भगवान् के उसी अयोगी गुणस्थान के अन्त समय में शेष रही हुई तेरह कर्म प्रकृति जो कि अब तक लगी हुई थी तत्काल ही नष्ट हो जाती है।

अनंतर भगवान् उर्ध्व गमन करके एक कर्म के अवरोध रहित लोक के अग्रभाग विषैं विराजमान होते हैं। लोकाग्रभाग से आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है इसलिये उनका आगे गमन नहीं होता है।

जो गमन करने में सहकारी कारण है वह धर्मास्तिकाय है। जो पदार्थों की स्थिति में कारण है वह अधर्मास्तिकाय है। इन दोनों के निमित्त से पदार्थों की स्थिति व गति कही गई है। आगे दोनों का अभाव है, इसलिये आगे गमनशील एवं स्थितिशील पदार्थों का भी अभाव है। ये संसार अवस्थाकी बातें हैं। सिद्ध अवस्था में तो आत्मा जैसा है वैसा ही रहता है। आत्मा के स्वभाव में किसी प्रकार परिवर्तन नहीं होता है। आत्मा जो है एवं जैसा है वैसा ही रहता है।

इस प्रकार संक्षेप से इन चारों प्रकार के ध्यानों का वर्णन किया। विशेष जिज्ञासुओं को ज्ञानार्णवजी तथा तत्त्वानुशासन से जान लेना चाहिये।

सामायिक के समय के आसन व कर्त्तव्य

सामायिक के समय शरीर की आकृति बिलकुल सरल एवं सीधी रखनी चाहिये, टेढ़ी बांकी नहीं करनी चाहिये, और काय को स्थिर रखना चाहिये। सामायिक के समय इधर उधर दृष्टि नहीं दौड़ानी चाहिये। अपनी दृष्टि को उस समय नासिका के अग्रभाग और दोनों भौंहों के बीचों बीच में रक्खे, हलने चलने न देवे। जो भी आसन लगाया हो उसे दृढ़ रक्खे, हलचल न करे। प्रथम तो आसन विशेष करने की ही कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि आचार्यों ने स्थिर परिणाम को ही सबसे उत्तम आसन माना है और समय पर जो मिल जावे उसका एवं पृथ्वी का ही आसन समझ लिया जावे या पाषाण लकड़ी पाटा चटाई या घास आदि का जैसा भी हो उसी पर ध्यान करे।

प्रथम वाम पांव को दाहिनी जंघा के ऊपर रक्खे। फिर दाहिने पांव को वाम जंघा पर रक्खे। पश्चात् अपने वाम हाथ को पैरों के ऊपर अपनी गोद मे रक्खे फिर उसके ऊपर दाहिने हाथ को रक्खे। अपनी दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर जमाकर, न तो पूर्ण खुली रक्खे और न बिल्कुल मीच ही ले, अधखुली रक्खे और अपनी काय को स्थिर रखे इसको पद्मासन कहते हैं।

खड्गासन करना होवे तो ऐसा करे कि दोनों पावों को चार अंगुल के अन्तर से रक्खे, बिलकुल सीधा स्तंभ (खंभे) के समान खड़ा रहे। दृष्टि को नासाग्र पर ही रक्खे। दोनों हाथ सीधे लटकते रहें। हाथों से मक्खी आदि भी न उड़ावे उसको खड्गासन कहते हैं। आचार्यों ने

इन दोनों आसनों को सुखासन कहा है। फिर भी जिस आसन से अपना ध्यान जमे, संकल्प विकल्प को प्राप्त न होवे वह ही सुखासन है। इसीको द्रव्य सामायिक मुद्रा विद्वानों एवं आचार्यों ने कहा है।

वास्तविक सामायिक के पात्र तो मुनि लोग ही होते हैं। परन्तु एक देश सामायिक के पात्र अविरत सम्यग्दृष्टि से लगाकर क्षुल्लक ऐलक पद तक के श्रावक भी होते हैं। इसका प्रमाण भाव सामायिक के लिये मिलता है द्रव्य सामायिक के लिये नहीं मिलता।

सामायिक के इच्छुक पुरुषों को चाहिए कि जितने भी सामायिक के बाधक कारण हों उनको दूर ही से त्याग देवें। परिषह एवं उपसर्ग आवें तो उनको सहन करे। परिणामों की आकुलता से साम्य भाव नष्ट हो जाता है जैसे परतन्त्र सवारी आदि मे बैठना वह सवारी अपने समय पर ही ठहरेगी उसे दूसरे सामायिक वाले का ध्यान नहीं होगा। इसलिये स्वतन्त्र सवारी पर बैठे। जिससे यथा समय सामायिक कर सके। श्रावक लोगों से इस के लिये द्रव्य की याचना भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यदि उनसे द्रव्य की उपलब्धि नहीं हुई तो आतरौद्र परिणाम हो सकते हैं और भी जो सामायिक में बाधक कारण हों उनको त्याग देवे। जैसे—

जब सामायिक प्रारंभ की जाती है तब नियम करना पड़ता है कि मैं जब तक सामायिक करूंगा तब तक मेरे शरीर पर इस प्रकार का दागीना या इतने वस्त्र अथवा साढे तीन या तीन हाथ चौ तरफा जमीन के सिवाय नियमित समय तक सब का त्याग है।

प्रश्न—सामायिक में आपने शरीर के वस्त्रादि का नियम बतलाया सो तो ठीक है, किन्तु इसमें साढे तीन हाथ जमीन का नियम क्यों किया जाता है?

उत्तर—संसार में रहते हुए प्राणियों के कर्म का उदय सब जगह मौजूद है। नहीं मालूम कौन कर्म की प्रकृति किस समय उदय में आजावे और उपसर्ग के उपद्रवको सहन करते गिर पड़े "तो उपसर्ग आने पर भी सामायिक से नहीं चिगूंगा" इस प्रतिज्ञा में दूषण आ सकता है। इसलिये सामायिक करते समय साढेतीन हाथ जमीन का परिग्रह और रक्खे शेष त्याग दे। गाड़ी में चलते हुए सामायिक नहीं करनी चाहिये। क्योंकि कहां तो सामायिक मांडी जाती है और कहां पूरी होती है। न तो स्थान का ही नियम रहता और न समय का ही नियम रहता है तथा अन्य भी अनेक दोष नहीं टलते एवं मुसाफिर लोग लड़ते भी हैं, धक्का धुक्की भी होती है तो उस समय परिणामों में किस प्रकार शान्ति रह सकती है? ऐसे अवसर पर सामायिक का मुख्य कारण जो साम्यभाव है वह नहीं रहता, लोगों को दिखाने मात्र का सामायिक मायाचार रूप है। अतः गाड़ी मे सामायिक करना असंगत है।

यह भी विचारणीय बात है जो गृह त्यागी पुरुष होते हैं वे आदर्श पुरुष होते हैं। उनको चाहिये कि वे कभी भी सवारी में न बैठे,

पैदल ही चले । जिससे प्रथम तो दीन वृत्ति से बचें, दूसरे जिस ग्राम में आवेंगे वहां के श्रावकों को शुद्ध भोजन की प्रवृत्ति तथा आत्म कल्याण का उपदेश मिले, जिससे अपना तथा अपनी समाज का भला होवे । और अपने निमित्त से जो द्रव्य गाडी में दिया जाता है उस द्रव्य से वे लोग मांस भक्षण आदि करते हैं उस पाप से बचे एवं उस पैसे से समाज का हित किया जावे । इस प्रकार का व्रतियों का आचरण होना चाहिये । यदि कहीं पर आवश्यक जाना हो और गृहस्थ लोग अपने साथ लेजावें तब साथ चला जावे, किन्तु द्रव्य की याचना कभी नहीं करनी चाहिये । क्योंकि व्रती होकर याचना अयोग्य है । इस प्रकार व्रती तथा व्रत का अनादर होता है । अतः शान्ति के साथ व्रत पालना चाहिये । याचना सर्वथा कदापि नहीं करनी चाहिये ।

व्रत प्रतिमामें जो सामायिक कहा है सो वह अतिचार सहित है । उन अतिचार एवं दोषों को दूर करने के लिये यह तृतीय प्रतिमा ग्रहण की जाती है । यदि तीसरी प्रतिमा ग्रहण करने पर भी वैसी ही प्रवृत्ति बनी रहेगी तो तीसरी प्रतिमा ग्रहण करना ही व्यर्थ है । और यदि तृतीय प्रतिमा ग्रहण की है तो उसके शास्त्रोक्त अतिचारों को अवश्य दूर करने चाहिये ।

ध्यान रखना चाहिए जैन व्रत किसी को रिझाने के लिये नहीं होते हैं । ये अनादि काल से लगे हुए कर्म कलंक दूर कर आत्मा को शुद्ध करने के लिये किये जाते हैं । इसमें सरल स्वभाव रखना चाहिए । मायाचारी का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ।

सामायिक के ३२ दोष

अनादृतश्चतब्धः स्यात्प्रविष्टः स्यात्परिपीडितः ।
दोलायितोंकुशितोऽपि भवेत्कच्छपरिंगितः ॥ ११० ॥
मत्स्योद्वर्तो मनोदुष्टो वेदिकाबद्ध एव हि ।
भयोविभ्यद्धवेद्धिगौरवो गौरवस्तथा ॥ १११ ॥
स्तनितः प्रतिनीकश्च प्रदुष्टस्तर्जितस्तथा ।
शब्दश्च हेलितश्च त्रिवलितैश्चैवकुंचितः ॥ ११२ ॥
दृष्टोऽदृष्टो भवेत्संघकरमोचन एवहि ।
आलब्धः स्यादनालब्धो हीन उत्तरचूलिकः ॥ ११३ ॥

मूकश्च दुर्दरो दोषो भवेत्सुललितः सुहृत् ।
द्वात्रिंशत्प्रमितान् दोषांस्त्यक्त्वा सामायिकं भज ॥ ११४ ॥ [प्रश्नोत्तर श्रावकाचार अ. १८]

दोषरहित सामायिक करने से सामायिक प्रतिमा धारण होती है। अतः सामायिक के निम्न लिखित ३२ दोष जानने चाहिए (१) अनादर से सामायिक करना, (२) गर्व करना, (३) मान बड़ाई के लिये सामायिक करना, (४ दूसरे जीवों को पीड़ा पहुंचाना, (५) हिलते रहना, (६) शरीर को टेढ़ा करना, (७) कछुवे की तरह शरीर को संकुचित करना, (८) मछली की तरह नीचा ऊंचा होना, (९) मन में दुष्टता रखना, (१०) जिन मत की आम्नाय से सामायिक न करना (११) भय करना, (१२) ग्लानि करना, '१३) ऋद्धि गौरव के गर्व सहित होना, (१४) उच्च कुल का गर्व करना, (१५) चौर की तरह सकुचाना, (१६) समय टाल देना, (१७) दुष्टता रखना, (१८) दूसरे को भय उपजाना, (१९) सावद्य (पाप सहित) वचन बोलना, (२०) पर की निन्दा करना, (२१) भौंह चढ़ाना, (२२) मन में संकोच रखना, २३) दशों दिशाओं का विलोकन करना, (२४) स्थान का न शोधना, (२५) किसी प्रकार समय पूर्ण करना, (२६) लंगोटी पीछी आदि की हानि में खेद करना, (२७) किसी प्रकार की वांछा करना (२८) सामायिक का पाठ हीन पढ़ना, (२९) खण्डित पाठ पढ़कर सामायिक करना, (३०) सामायिक में गूंगे की तरह बोलना, (३१) मेंढक के समान ऊंचे स्वर से टर्र २ करना, (३२) चित्तको चलायमान करना।

उल्लिखित ३२ दोष सामायिक में बाधा के कारण हैं उनको टलना चाहिये।

इसके अतिरिक्त सामायिक में निम्नलिखित पांच अतिचार भी टालने चाहिये।

वाक्कायमानसानां दुष्प्रणिधानान्यनादरास्मरणे ।
सामायिकस्यातिगमाः व्यज्यन्ते पञ्चभावेन ॥ १०५ ॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

अर्थ—वचन को सामायिक पाठ से चलायमान करना (१) काय को स्थिर न रखते हुए हिलना जुलना (२) मन को आर्त रौद्र-परिणामों से चलायमान करना (३) सामायिक में आदर भाव नहीं रखना (४) सामायिक के मूल पाठ पर ध्यान नहीं रखना, उसको भूल जाना (५) इस प्रकार ये सामायिक के पांच अतिचार हैं। इनसे सामायिक दूषित हो जाता है। इसलिये इन से बचने का पूरा २ ध्यान रखना चाहिये।

४ प्रोषध प्रतिमा का स्वरूप

सूतीय, सामायिक प्रतिमा का पूर्ण रूप से पालन करके, आगे के व्रत बढ़ाने के भाव होवें, तब प्रोषध प्रतिमा ग्रहण की जाती है।

इसका स्वरूप और आचरण इस प्रकार है।

"अष्टम्यां चतुर्दश्यां, पर्वदिनेषु प्रणाधिपाः सम्मारूढः ।
प्रोषधनियमस्वरूपैः, सह स्वशक्त्यनुसारेण ॥"

भावार्थ—प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को, दोष और अतिचार रहित प्रोषधोपवास करना, गृह सम्बन्धी व्यापार आरंभ भोगोपभोग की सकल सामग्री (वस्तु) का त्याग करके, एकान्त स्थान में, धर्म ध्यान में संलग्न होना, सो प्रोषधोपवास प्रतिमा कहलाती है। १६ प्रहर का उत्तम, १४ प्रहर का मध्यम तथा १२ प्रहर का जघन्य प्रोषधोपवास होता है। इसका खुलासा व्रत प्रतिमा में किया जा चुका है।

उपवास का लक्षण

कषायविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते ।
उपहासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः ॥ [मोक्ष मार्ग प्र० से]

भावार्थ—विषय, कषाय और आहार का त्याग करना उपवास कहलाता है। जहां विषय कहिये पांच इन्द्रियों के भोग; कषाय कहिये क्रोध मान माया-लोभ रूप प्रवृत्ति इसके अलावा अन्य भी आरंभ परिग्रह न छूटे हों, धर्मध्यान रूप प्रवृत्ति न हुई हो, केवल भोजन छोड़ दिया हो तो वह उपवास नहीं, वह तो लंघन है। केवल उपवास का दिखावा है। इसलिये पहिले राग द्वेष, पंचेन्द्रियों के भोगों का स्वरूप विचार कर इनको त्याज्य समझ कर छोड़े। फिर आहार को भी छोड़दे, तब उपवास होता है अन्यथा नहीं। धर्म ध्यान, स्वाध्याय, जिनपूजा, आदि पवित्र चर्या करते हुए उपवास का दिवस व्यतीत करना चाहिये।

जितना भी कार्य करे, वह निरतिचार और धर्म पोषक हो, इस प्रकार प्रमाद रहित हो कर करे, ऊपर की प्रतिमा में ध्यानाभ्यास करना बता चुके हैं, सब से पहिले वह करे ऐसे स्थान में जहां किसी प्रकार का विघ्न न दीखे। फिर स्वाध्याय करे, सो शास्त्रजी के पन्ने इतनी सावधानी से पलटे कि उनमें कोई जीव दब या मर न जावे। तथा जैसा कि स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा में बतलाया है उस प्रकार पूर्ण सावधानी से आचरण करना।

सत्तमि तेरसि दिवसे, अवरहणे जाइऊण जिणभवणे ।
किरिया कम्मं काउ, उपवासं च उव्विहं गहिय ॥ ३७२ ॥

गिहवावारं चत्तत्ति, गामिऊण धम्मचिंताए ।
पच्चूहे उट्ठिता, किरिया कम्मं च कादूण ॥ ३७४ ॥
सत्थब्भासेण पुणोदिवसं, गमिऊण वदणं किच्चा ।
रत्तिणट्ठे णतहा, पच्चूहे वंदणं किच्चा ॥ ३७५ ॥
पुज्जाण विहिंच किच्चा, पत्तं ऊणणवरि ति विहंपि ।
मुजाविऊणालं, भुजंतो पोसहो होदि ॥ ३७६ ॥ [स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा]

भावार्थ—सप्तमी तथा तेरस के दिन दो पहर दिन चढे पीछे, श्री जिन चैत्यालय जावे व दिगम्बर गुरु होवें तो उनके पास जावे । अपराह्न (सायंकाल) की क्रिया करके चार प्रकार के आहार (खाद्य, स्वाद्य लेह्य, पेय) का त्याग करके, उपवास ग्रहण करे अर्थात्–कषाय क्रोध मान माया लोभ, तथा पांच इन्द्रियों के विषय, स्पर्श, रस गन्ध, वर्ण, शब्द इनमें रागादि, तथा गृहकार्य छोडकर धर्म ध्यान सहित सप्तमी या त्रयोदशी की रात्रि को पूर्ण करे, पुनः अष्टमी तथा चतुर्दशी को प्रातः सामायिक क्रिया कर्म को करके दिन शास्त्रभ्यास व धर्म ध्यान कर पूर्ण करे ।

अपराह्न का सामायिकादि क्रिया कर्म करके उसी प्रकार धर्म ध्यान पूर्वक रात्रि पूर्ण करे । फिर नवमी पूर्णिमा के प्रभात सामायिक वंदनादि करके जिनेश्वर देव का पूजन विधान करे । यथा-पात्रों को पडगाह करके भोजन देवे, पश्चात् आप भोजन करे । इस प्रकार चौथी प्रतिमा प्रोषधोपवास होता है ।

जो उपवास करे और चारों प्रकार के आहार का त्याग करे और फिर जिनेन्द्र देव की पूजन करे तब स्नान तो करे ही, तब मुख शुद्धि वास्ते कुल्ला करे, या नहीं करे और पूजा सचित्त द्रव्य से करे या अचित्त द्रव्य से करे सो स्पष्टी करण करते हैं ।

उपवास में दन्त धावन करें या नहीं

अन्याशक्तता नारीणां, वितथं भापते मुखेन
यावज्जीवं न शुद्धते कदा भापते मुनिवरैर्सदा ॥ १ ॥

अर्थ—यहां पर कहते हैं कि जो स्त्री पर पुरुष आशक्त हो वह कभी भी शुद्ध नहीं हो सकती । उसही प्रकार जिस मुख से झूठ सदा पैदा

होता रहे हैं उस मुख की कभी शुद्धि होती ही नहीं। क्योंकि घंटा भर पानी से मुख को खूब धोवे पश्चात् किसी के ऊपर जरा थूकारा लग जावे तो वह तुर्त कहेगा कि मेरे झूंठे छींटे क्यों लगा दिये। इससे जो कुरला भी करो या नहीं करो मुख की शुद्धि तो होती ही नहीं, कारण मुख शुद्धि जबही हो सकती है कि इस मुख से कदापि झूंठ अर्थात् विपरीत प्रलाप नहीं कहाजावे। वह ही मुख की शुद्धि है अन्यथा नहीं।

उपवास के दिन, जिनेन्द्र की पूजा के लिये मुख शुद्धि व कुरला करे या न करे? तथा पूजन सचित्त द्रव्य से करे या अचित्त द्रव्य से? इसका उत्तर इस प्रकार है।

द्वितीया पंचमी चैव ह्यष्टम्ये कादशी तथा।
चतुर्दशी तथैतासु दन्तधावं च नाचरेत् ॥ १ ॥

उत्तर—मुख हमेशा अशुद्ध ही रहता है, घडे भर पानी से मुंह धोकर भी किसी पर जरासा थूक देवे तो वह कहेगा, मुझे अशुद्ध क्यों कर दिया, इस प्रकार जब कुरला करने से भी अशुद्धि दूर नहीं होती तो, पेय रूप त्याग किये हुए पानी को ग्रहण करके अपना व्रत क्यों सदोष बनाया जावे। इसका कथन पीछे भी कर चुके है। तथा इन्द्रनन्दि संहिता में कहा है—

पव्वदिणेसु णएसुचि, ण दन्तकट्ठं ण आचमं तप्पं।
एदाणं जणाणस्साणं परिहरणं तत्थ सएणेउ ॥

भावार्थ—पर्व के दिन अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टाह्निका, दशलक्षण, आदि, तथा व्रत के दिनों में दन्तधावन नहीं करना चाहिये, क्योंकि दन्त धावन से ही जो शुद्धि होती हो तो मुनियों को भी निषेध नहीं किया होता। इसलिये उपवास के दिन पूजा के लिये भी दन्त धावन की आवश्यकता नहीं। मुख की शुद्धि तो खोटी वाणी त्यागकर शुद्ध वाणी बोलने से ही होती है। पूजा कैसे द्रव्यों से करना चाहिये इसका उत्तर पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय के अनुसार इस प्रकार है—

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा, तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं, जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥ १५५ ॥ [पुरुषार्थ सि.]

अर्थ - प्रातः काल उठकर सामान्य प्रभात क्रिया करके-प्रासुक अर्थात् अचित्त द्रव्यों से भगवान् जिनेंद्र की पूजा करे, न कि

सचित्त द्रव्यो से। क्योंकि सचित्त में महान पापारंभ होता है। और यहां प्रोषध प्रतिमा और पर्व है। इससे उस जनित आरंभ का त्याग है। पर किंचित् आरंभ और पुण्य विशेष वैसा कार्य निमित्त अचित्त पूजन बताई है। सो नवमी और पूर्णिमा के दिन, न कि अष्टमी और चतुर्दशी। यहां कहते हैं कि 'सावद्यलेशयो बहुपुण्यराशौ। यहां खयाल करने की बात है कि पांचवी प्रतिमाधारी श्रावक होता है वह सचित्त का त्यागी होता है सो वहभी श्रावक अवस्था में भी, जल नहीं वपरे' किन्तु यहां तो प्रतिमा श्री जिनेन्द्र देव सकल संयमी की है और फिर भी कच्चे जल से प्रचाल करना ये भूल है। इससे प्रचाल प्रासुक जल से ही करना चाहिये। इसलिये, सचित्त सम्बन्धी महारंभ को छोडकर अचित्त द्रव्यों से पूजा करनी चाहिये, सो भी नवमी व पूर्णिमा के दिन। सचित्त त्यागी को तो हमेशा प्रासुक जल से ही अभिषेक व पूजा करनी चाहिये, क्योंकि जिन प्रतिमा सकल संयमी की प्रतिमा है। देवेन्द्रादि क्षीरसागर के शुद्ध जल से ही प्रतिमा का अभिषेक करते हैं, वे अव्रती हैं, इसी तरह अव्रती श्रावक भी सामान्य शुद्ध छने जल से भगवान् का अभिषेक करते हैं।

इस प्रतिमाधारी को चाहिये कि वह जितनी भी प्रवृत्ति करे वह निष्प्रमाद होकर करे, तथा, जिससे प्रतिमा धारण करने के फल की प्राप्ति होवे अन्यथा नहीं। श्रृंगार इत्र तेल फुलेल आदि न लगावे, तथा व्रत के दिन हजामत न करावे, राग वर्द्धक गीत गान, नाटक सिनेमा, आदि न देखे दिखावे, उपन्यास किस्सा कहानी आदि की पुस्तक न पढ़े पढावे, अगर जिनेन्द्र देव की उत्सव सम्बन्धी, या भक्ति के गीतादि हों तो उनका त्याग नहीं।

व्रत प्रतिमा में जो प्रोषधोपवास कहा है, वह सामान्य तथा सातिचार अभ्यास रूप है। अर्थात् अतिचारों सहित है, और यहां प्रतिमा रूप है, सो पूर्ण तया निर्दोस, और अतिचार रहित पालन होना चाहिये। इसकी जितनी भी क्रिया है, सो सब प्रमाद रहित हो, तथा सोलह प्रहर तक सिवा धर्म ध्यान के अन्य कर्तव्य नहीं करना। व्रतियों को यह समझना चाहिये कि पूर्ण तया निर्दोष व्रत पालने से ही यथार्थ फल की प्राप्ति होती है। अन्यथा; विपरीतता करने से कर्म बन्ध होता है। अतः व्रती को निज कर्तव्य में सदैव सावधान सतर्क रहना योग्य है।

प्रश्न—अष्टमी चतुर्दशी की पर्वणी जो मानी है उस का क्या स्वरूप है और क्यों मानी है सो कहिए।

उत्तर—जैनधर्माचार्यों ने पर्वणी का अर्थ बहुत ही महत्व बतलाया है उसका कथन इस प्रकार है।

यः पर्वण्युपवासं हि, विधत्ते भावपूर्वक।
नाकराज्यं च संप्राप्य, मुक्तिनारी वरिष्यति ॥ २७ ॥

"प्रोषधं नियमेनैव, चतुर्दश्यां करोति यः ।
चतुर्दशगुणस्थानान्यतीत्य मुक्तिमाप्नुयात् ॥ २८ ॥"

अर्थ—जो व्यक्ति पर्व के दिनों मे भाव पूर्वक उपवास धारण करते हैं वे स्वर्ग के राज्य का उपभोग करके अंतमें अवश्य मुक्ति रूपी स्त्री के स्वामी होते हैं।

जो चतुर्दशी के दिन नियम पूर्वक प्रोषधोप वास करता है, वह चौदह गुण स्थानों को पार कर मोक्ष में जा विराजमान होता है।

अष्टम्यामुपवासं हि ये कुर्वन्ति नरोत्तमाः ।
हत्वा कर्माष्टकं तेऽपि यान्ति मुक्तिं सुदृष्टयः ॥ ३३ ॥
अष्टमे दिवसे सारे यः कुर्यात्प्रोषधं वरम् ।
इन्द्रराज्यपदं प्राप्य, क्रमाद्याति स निर्वृतिम् ॥ ३४ ॥ [प्रश्नोत्तर श्रा.]

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि उत्तम पुरुष अष्टमी के दिन उपवास करते हैं वे आठों कर्मों को नष्टकर मोक्ष में जा विराजमान होते हैं।

अष्टमी का दिन सब में सारभूत है। उसदिन जो उत्तम प्रोषधोपवास करता है वह इन्द्र का साम्राज्य पाकर अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त करता है।

इस प्रकार अष्टमी और चतुर्दशी पर्वों का माहात्म्य शास्त्रकारों ने स्थान स्थान पर प्रकट किया है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसके अनुसार चलकर जीवन को सार्थक बनावें।

(५) सचित्त त्याग प्रतिमा

मूलफलशाकशाखा करीरकंदप्रसूनबीजानि ।
नामानि योत्ति सोऽयं, सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥ १४१ ॥ [रत्न करण्ड श्रा०]
उ. कि. ४

अर्थ—जो अपक्व वनस्पति, अर्थात् मूल, फल शाक, शाखा (कोंपल) कैर, कंद, फूल, बीज को नहीं खाता, वह दया की मूर्ति सचित्त त्याग प्रतिमा धारी श्रावक कहलाता है।

सी का धर्म संग्रह तथा सागार धर्मामृत में इस प्रकार वर्णन किया है—

शाकबीजफलाम्बूनि, लवणाद्यप्रासुकं त्यजन् ।
जाग्रद्योऽङ्गिपञ्चत्वभीतः संयमवान् भवेत् ॥ १५ ॥ [धम सं. श्रा.]

अर्थ—जिसके हृदय में दया जागृत होगई है ऐसा प्राणी, जीवबध से डरा हुवा, अप्रासुक शाक बीज, फल, जल, लवण, आदि को त्यागकर संयमवान होता है। (सागार धर्मामृत में भी लवण को सदा सचित्त ही माना है।)

अनन्तकायाः सर्वेऽपि, सदा हेया दयापरैः ।
यदेकमपि तं हन्तुं प्रवृत्तो हन्त्यनन्तकान् ॥ १७ ॥ [सागार ध. अ. ५]

अर्थ—दयालु को सदा सर्व प्रकार की अनन्त काय वनस्पति का त्याग करना चाहिये। क्योंकि एक भी अनन्त काय वनस्पति की हिंसा में प्रवृत्त हुवा, अनन्त जीवों को मारता है। अनन्त काय, सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित का वर्णन पीछे किया जा चुका है। अब प्रासुक जलादि ग्रहण करने की विधि बताते हैं।:—

"सूर्याग्नियन्त्रेण पक्वं यत् फलबीजानि भक्षितुम् ।
वर्णगन्धरसस्पर्शान्यावृत्तं जलमर्हति ॥"

अर्थ—सूर्य से सूखे या सुखाये हुए तथा अग्नि से तपाये हुए, या यंत्रों से पेले हुए, फल, बीज गन्ना आदि सचित्त वस्तुएं तथा जल. जिनका, वर्ण गन्ध, रस, स्पर्श बदल गया है, वे वस्तुएं खाने पीने वर्तने योग्य हो जाती हैं। हरित काय की रक्षा क्यों करनी चाहिये ? इसका उत्तर यह है—

हरितेष्वंकुराद्येषु, सन्त्येवानन्तशोऽङ्गिनः ।
निगोताः इति सार्वज्ञं वचः प्रामाण्यन् सुधीः ॥

पादापि संस्पृशंस्तानि, कदाचिद्गाढतोऽर्थतः ।
योती संक्लिश्यते प्राणनाशेप्येष किमत्स्यति ॥ १८ ॥ [ध. सं. श्रा.]

अर्थ—हरित अंकुरादि में अनन्त निगोद जीव हैं, इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान् के वचनों को प्रमाण करता हुआ, चरण मात्र से भी उन अंकुरों को स्पर्श करता हुआ अत्यंत दुःखी होता है, वह पुण्य शाली भव्यात्मा उनको कैसे भक्षण करेगा ? अर्थात् कभी नहीं करेगा ।

ते तु स्वव्रतसिद्ध्यर्थमीहमाना महान्वयाः ।
नैषु प्रवेशनं तावद्यावदार्द्रांकुराः पथि ॥ १३ ॥
सधान्यै हरितैः कीर्णमनाक्रम्य नृपांगणं ।
निश्चक्रमुः कृपालुत्वात्केचित्सावद्यभीरवः ॥ १४ ॥
प्रवालपत्रपुष्पादेः पर्वणि व्यपरोपणं ।
न कल्पतेऽद्यतज्जानां जन्तूनां नोऽनीमद्रुहाम् ॥ १५ ॥
सन्त्येवानन्तशो जीवा, हरितेष्वंकुरादिषु ।
निगोता इति सार्वज्ञं, देवास्माभिः श्रुतं वचः ॥ १६ ॥
तस्मान्नाभिसंक्रान्तमयत्वे, त्वद् गृहाङ्गणं ।
कृतोपहारमार्द्रार्द्रैः, फलपुष्पाङ्कुरादिभिः ॥ १७ ॥ [आदि पुराण ३८ पर्व]

भावार्थ—भरत चक्रवर्ती ने जब अपनी संपत्ति सत्पात्रों को दान देनी चाही तो मुनि तो आहार सिवा कुछ लेते नहीं फिर दान किसको देना, ऐसा विचार कर व्रतधारी गृहस्थों को देने के लिये अपने घरपर बुलाया, सो उनकी परीक्षा के लिये आंगण में हरित अंकुरों, पर होकर आने का मार्ग दिखाया । जीव हिंसा से भय भीत होकर जो हरित भूमि पर होकर नहीं, आये उनको प्रासुक मार्ग से बुलाकर दान सन्मान दिया । इससे प्रमाणित होता है कि हरित को पैरों से कुचलना भी महापाप है तो खाना कैसे उचित हो सकता है ?

यह भी ध्यान रखने की बात है कि इस प्रतिमायें सचित्त के खाने का ही त्याग नहीं है किन्तु अन्य प्रकार से जैसे सचित्त से नहाना धोना, आदि रूप से उपयोग का भी त्याग है। हां कुवे पर से जल ला सकता है, सचित्त शाक वगैरह छू सकता है, प्रासुक कर सकता है, प्रासुक करने आदि का भी त्याग अष्टम प्रतिमा में हुवा करता है।

गृहवासी सचित्त त्यागी का सर्व प्रबन्ध तो वह स्वयं, या उसके अन्य घर के लोग कर देते हैं, पर गृह त्यागी का तो सर्व प्रबंध श्रावकों द्वारा ही होना चाहिये, अर्थात् जब भोजन करने जावे तब वहां से ही पीतल का कमण्डलु प्रासुक जल से भरा लेना चाहिए तथा सायङ्काल के वास्ते भी एक कमण्डलु और जल के लिये कह आवे, तथा दूसरे दिन जिस श्रावक के जीमने जाना हो, प्रभात ही वहां से एक कलशा प्रासुक जल का आजाना चाहिये, जिससे स्नान पूजनादि सब क्रियाकरे। सिद्धान्त की आज्ञा भङ्ग करके इससे विपरीत कार्य नहीं करना चाहिये, नहीं तो नरक निगोद का पात्र होना पड़ेगा।

सकलकीर्ति श्रावकाचार में लिखा है कि भोगोपभोग परिमाण में जिन सचित्त वनस्पतियों का त्याग करदिया है ऐसे फल पुष्प, शाक पत्र, कंदादिक को अचित्त होने पर भी श्रावक अवस्था में भक्षण न करे। जिससे इन्द्रिय पर विजय होकर त्रस स्थावर जीवों की हिंसा से बचे। व्रत का यही महात्म्य है कि पाप से स्वयं बचे और दूसरों को बचावे।

सचित्त त्यागी यत्नाचार पूर्वक अपने हाथ से रसोई बना सकता है, अन्य परिजन या व्रतियों को जिमा सकता है, क्योंकि अष्टम प्रतिमा से पहिले आरंभ का त्याग नहीं है। इस प्रतिमा में तो सचित्त न स्वयं भक्षण करे। न करावे, न ऐसा उपदेश दे कि सचित्त भक्षण करो।

ज्ञानानन्द श्रावकाचार में भी लिखा है कि पांचवीं प्रतिमा धारी के सचित्त भक्षण का त्याग है न कि स्पर्श करने का भी। ऐसा त्याग तो सकल संयमी (मुनि) के होता है। सो भी उत्सर्ग पने में, अपवाद अवस्था में उनको भी नदी पार करना होवे, तो गोड़े प्रमाण जल में उतरते हैं।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका में लिखा है, कि पांचवीं प्रतिमाधारी न तो सचित्त स्वयं भक्षण करे न दूसरों को भक्षण करावे। कदाचित् असाता कर्म के उदय से घर में किसी कुटुम्बी के रोग जनित अवस्था हो जावे तो, सचित्त वस्तुओं को अचित्त बनाकर उनका उपकार कर सकता है। इस प्रकार का अन्य भी अनेक ग्रन्थों में उल्लेख है। भगवान् कुंदकुंद कृत अष्टपाहुड के भावपाहुड में लिखा है—

सच्चित्त भत्तपाणं गिद्धिदप्पेणऽधिय भुत्तूण ।
पत्तोऽसि तिव्वदुक्खं, अणाइ कालेण तं चित्त ॥ १०२ ॥

कंदमूलवीयपुप्फं, पत्तादि किंचि सच्चित्तं ।
असिऊणमाणगव्वं भमिओसि णंत संसारे ॥ १०२ ॥

अर्थ—हे जीव, तूने दुर्बुद्धि, गृद्धि, अज्ञान, तथा अहंकार या उद्धत पने से, सचित्त भक्षण करके सजीव आहार पानी लेकर तीव्र दुख पाया है उसे चिंतवन कर। कंद कहिये जमीकंदादि, मूल कहिये अदरख गाजर, मूली सकरकंदी, घुइयां रतालु आदि, बीज कहिये गेहूं चना जुवार, बाजरा, मक्की, मूंग, मोठ, उड़द, चांवला, और भी कई प्रकार के पुष्प, फल, पत्र शाक, नागरवेल आदि जो कुछ सचित्त वस्तु गर्व करि भक्षण की, उससे हे जीव तू अनन्त संसार में भटका और बहुत दुख का भाजन हुआ है। उनको विचारो, कैसे २ दारुण दुख तूने भोगे हैं।

सचित्त त्याग व्रत इस विचार से लिया जाता है कि "मैं इन्द्रियों का संयम ठीक २ तरह से पालूंगा, तब ही पूरी तरह से प्राणि संयम पल सकेगा, अन्यथा नहीं। व्रती होकर भी जीवों को बाधा पहुँचाई, अहिंसा का लक्ष्य नहीं रहा तो समझलेना चाहिये कि आगामी हमारा अच्छा होनहार नहीं है क्योंकि जिस व्रत से आत्मा का कल्याण होता है, उस व्रत से आत्मा का घात होना या करना कितना बुरा काम है, इसलिये व्रती को सावधान होना सर्व प्रथम कर्तव्य है।

ग्रन्थकारों ने सचित्त त्यागियों की कैसी प्रशंसा की है सो बताते हैं—

अहो जिनोक्तनिर्णीतिरहो अक्षजितिः सताम् ।
नालक्ष्यजन्त्वपि हरित् प्सान्त्येतेऽसुक्षयेऽपि यत् ॥ १० ॥ [सा. ध. अ. ७]

अर्थ—सज्जन पुरुषों का जिनागम संबंधी निश्चय बहुत ही आश्चर्य करने वाला है, और उनका इन्द्रिय विजय भी आश्चर्य जनक है, कि ये जिसमें जन्तु दिखाई भी नहीं देते ऐसी हरित वस्तु को, प्राण जाने पर भी नहीं खाते। अपि शब्द से यह भावार्थ निकलता है कि जब वे आगम की श्रद्धा पूर्ण आज्ञा से ही सचित्त वनस्पति का भक्षण व त्याग करते हैं, तो जिन वस्तुओं में अनुमान और प्रत्यक्ष से प्राणियों की संभावना है उनका, कैसे भक्षण कर सकते हैं। अर्थात् कभी भी भक्षण नहीं कर सकते।

नमक भी वनस्पति की तरह सचित्त है

किन्तु इतना विशेष है कि और वस्तु तो सूर्य की धूप तथा अग्नि से पकाने पर प्रासुक हो जाती है, पर नमक को पीसन पर भी

वायु के निमित्त से उसमें तुरंत जल कायके जीव पैदा हो जाते हैं। इसलिये नमक को जब काम में लेना हो तबही पीसकर ताजा काम में लेनी चाहिये, पहिले का पिसा हुआ नहीं। व्रतियों को सैंधव नमक ही ग्राह्य है, सांभर आदि का नहीं। सो भी तुरंत का पिसा हुवा हो।

(६) रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा

निशायां खाद्यं पानं स्वाद्यं लेह्यं दिवामैथुनानि च।
सविरतो रात्रिभुक्तिः अनुकम्पयेषु केषु रक्षणं ॥

अर्थ—कृतकारित अनुमोदना तथा मन वचन कायसे रात्रि मात्र को हरेक प्रकार के आहार का त्याग करना अर्थात् सूर्य के छिपने के पहले दो घडी और सूर्य के निकलने के दो घड़ी पश्चात् तक आहार पानी खाद्य लेह्य और पेय ऐसे चारों प्रकार के भोजेन का सर्वथा त्यागी और दिवा मैथुन अर्थात् दिन में स्त्री संसर्ग का सर्वथा त्याग होता है। इसी को रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा कहते हैं। यहां पर यह नहीं समझना चाहिये कि पाचमी प्रतिमा जो सचित त्याग है उसके अन्दर या उसके पहले की प्रतिमाओं में रात्रि भोजन या दिन में स्त्री सेवन करते होंगे और छटी प्रतिमा में ही इसका त्याग होता होगा। सो बात नहीं है। यह त्याग तो व्रत प्रतिमा से पहले पाक्षिक अवस्था में ही त्याग हो जाता है। परन्तु यहां तक उसमें कई प्रकार के कई दूषणों में से उनमें दूषण लगजाया करतेथे सो अब प्रतिमा रूप प्रण में वे दूषण नहीं लगे। सब प्रकार से दोष बचाकर आचरण करे, तब ही जीवों की अनुकम्पा पल सकती है, तथा जीवों की दया पलती है, अन्यथा नहीं।

रात्रावपि ऋतावेव, सन्तानार्थमृतावपि।
भजन्ति वशिनः कान्तां, न तु पर्वदिनादिषु ॥ १४ ॥ [सा. ध. अ ७]

अर्थ—जितेन्द्री पुरुष श्रावक) रात्रि में ही, रात्रि में भी ऋतुकाल में भी, सन्तान प्राप्ति के लिये, न कि विषय भोग का आनन्द के लिये, स्वदारा का सेवन करते हैं, सो भी पर्वदिवस अष्टमी चतुर्दशी अष्टाह्निका, दशलक्षण आदि में कदाचित् भी स्त्री सेवन नहीं करते, अर्थात् सर्वथा त्याग करदेते हैं।

एवं षट् प्रतिमा यावच्छ्रावका गृहिणोऽधमा।
निरुच्यन्तेऽधुना मध्यास्त्रयोऽन्य वर्णिनोऽपि च ॥ २५ ॥ [धर्म सं.]

अर्थ—इस छट्ठी प्रतिमा तक के श्रावक जघन्य श्रावक कहलाते हैं। सातवीं, आठवीं, नवमी, इन तीन प्रतिमा के धारक मध्यम श्रावक होते हैं, इन की वर्णी संज्ञा है।

यह छठी प्रतिमा प्रायः कुलीन पुरुषों के ही ठीक ठीक रूप पलती है। स्त्री तथा शूद्रों को इसका पालन कठिन है। क्योंकि स्त्री के लिए तो संतान आदि को औषधि आदि देना तथा प्रसूति आदि अवस्था में लेना अनिवार्य हो जाता है, जिसमें रात्रि का बचाव नहीं रहता तथा शूद्रों का भी संपर्क रात्रि भोजियों से ही रहता है तथा अन्य उसकी जाति या कुटुम्ब वाले रात्रि भोजन करते हैं, इसलिये उससे निरतिचार इस प्रतिमा का पालन अशक्य है। यहां कोई प्रश्न करे ? कि फिर तो स्त्री या शूद्रों को इस प्रतिमा का व्रत नहीं देना चाहिये।

उत्तर—शास्त्रों में सत् शूद्र तथा स्त्री को एकादश प्रतिमा पालन तक का अधिकार बताया है, इसलिये उनकी पालना होने से प्रतिमा देने या पालन का सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता।

यह जैन धर्म पतित पावन है, इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, सभी को यथा योग्य व्रत पालन का अधिकार होते हुए भी, अपने अपने व्रतों को निरतिचार पालन करने का आदेश है। शूद्रों को ऐसी निर्दोष परिस्थिति मिलना आजकल अति कठिन है।

इस प्रतिमा धारी को रात्रि में गृह संबंधी व्यापार लेन देन, वाणिज्य, चूल्हा आदि का कार्य, षट्कर्म का आरंभ नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह सावद्य कर्म हैं, ऐसा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका में लिखा है।

दौलतरामजी कृत क्रिया कोष में लिखा है कि—रात्रि को मौन रखना चाहिये, सो धर्मध्यान, स्वाध्याय, चर्चा के अतिरिक्त, आरंभादि पाप क्रिया से बचने के लिये मौन रखना अतिश्रेष्ठ है।

बड़े समाधि तन्त्र में लिखा है कि इस प्रतिमा धारी को रात्रि में गमनागमन नहीं करना चाहिये। सो धर्म कार्य के सिवा अन्य कार्यों के लिये, ऐसा मंद कषायी प्रतिमाधारी गमनागमन क्यों करेगा ? मंद कषाय बिना इस प्रतिमा धारण करने की योग्यता ही कैसे हो सकती है।

स्त्री और पुरुषों के प्रतिमा पालन के ढंग में द्रव्य रूप से तो भेद अवश्य होता है किन्तु भावों से नहीं। जैसे स्त्री अपने बच्चे को रात्रि में स्तन पान कराती हुई भी छठी प्रतिमा धारक है।

अपनी अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुकूल महर्षियों ने व्रतियों की शाखा बताई है। इसलिये पालन में परस्पर भेद देखकर

संदेह नहीं करना चाहिये। इसलिये ही स्त्रियां गृहस्थ अवस्था में व्रत न लें ऐसा किसी शास्त्र में नहीं लिखा है हां इतना अवश्य है कि अपनी अपनी शक्ति के अनुकूल ही पालन करें।

जैसे—आर्यिका के, वस्त्र रखते हुए भी उपचार से महाव्रत माने जाते हैं, क्योंकि उसके त्याग की हद हो चुकी। इसी तरह स्त्री व शूद्रों के दूषण लगें तो भी वे (?)वशता न होने से उस प्रतिमा के धारी व्रती माने जावेंगे।

अथवा जैसे—सप्तम प्रतिमा में पुरुष के स्त्री मात्र रूप विषय का त्याग होगा, और स्त्री के पुरुष रूप विषय का त्याग होगा, ऐसा पीयूष वर्ष श्रावकाचार में लिखा है, सो यथायोग्य ही सब के व्रतों का पालन होता है।

(७) ब्रह्मचर्य नामा प्रतिमा

सूक्ष्मजन्तुगणाकीर्णं, योनिरन्ध्रं मलाविलम्।
पश्यन्यः संगतो नार्याः, काष्ठादिमयतोऽपि च ॥ २६—८ ॥
विरक्तो यः भवेत्प्राज्ञ स्त्रियोऽङ्गैस्त्रिकृतादिभिः।
पूर्वषड्व्रतनिर्वाही ब्रह्मचार्यत्र स स्मृतः ॥ २७ ॥

[धम सं.]

अर्थ—पहले की छह प्रतिमाओं का भले प्रकार निर्वाह करने वाला जो बुद्धिमान्—स्त्रियों के योनिस्थान को छोटे २ जीवों के समूह से पूर्ण तथा झरते हुए मल सहित देखकर, नाना प्रकार के दुखादिकों को सहन करता हुवा भी, मन वचन, काय से तथा कृत कारित अनुमोदना से, स्त्रियों से विरक्त होता है उस भव्यात्मा को नियम से ब्रह्मचारी समझना चाहिये।

विषं भुक्तं वरं लोके, झंपापातोऽग्नि कुण्डके।
रमणी रमण स्पर्शो, रमणीयो नहि कर्हिचित् ॥ ३३ ॥

[धर्म संग्रह श्रा.]

अर्थ—हलाहल विषपीना, पहाड़ पर से गिर कर मरना, झंपापात लेना, या अग्नि में कूदजाना अच्छा, परन्तु स्त्रियों से साथ रमण करना, तथा स्पर्श करना कभी भी अच्छा नहीं होता।

"यो न च याति विकारं युवतिजनकटाक्षबाणविद्धोपि ।
सत्वेकशूरशूरो न च शूरो भवेच्छूरः ॥ १ ॥
संसारबीजभूतं शरीरं दृष्ट्वा बीभत्समनङ्गत्वेन ।
पश्यन्नात्मान्यात्मानं स ब्रह्मचारी नैष्ठिकः ॥"

अर्थ—संसार का बीजभूत, मल का घट इस शरीर को देखकर, पुण्यात्मा पुरुष अन्य (स्पर्श)" के अङ्गों का स्पर्श या व्यसन विषय रूप वासना को घिनावना समझ कर ऐसे महा निंद्य कार्य को मन वचन, काय से त्याग देते हैं, वही पुरुष धन्य माने गये हैं। क्योंकि अन्य के अंग से अन्य के अंग के घर्षण में अनंत सम्मूर्च्छन जीवों की प्रत्यक्ष हिंसा दिखती है यानी विषय सेवन से जीवों का विनाश होता है।

मैथुनाचरणे मूढ म्रियन्ते जन्तुकोटयः ।
योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना, लिंगसंघट्टपीडिता ॥ २१–१३ ॥ [ज्ञानार्णव]

अर्थात्—स्त्री रूप पदार्थ के गुप्त अङ्ग में सदा ही असंख्य सैनी सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं, जो मैथुन सेवन से विनाश को प्राप्त होते हैं। हे मूढ–ऐसी हिंसा से जीव संसार में महान् कष्ट शोक ताप आक्रंदन दुख भोगता है, नरक निगोद का पात्र बन जाता है। ऐसा समझकर पुण्यशाली स्त्री या पुरुष न तो काम सेवन करते हैं न उसका स्मरण करते हैं। वेही प्राणी संसार रूप सागर से पार होते हैं तथा धन्य माने गये हैं।

"ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्च सप्तमे ।
चत्वारोऽङ्गे क्रियाभेदादुक्ता वर्णवदाश्रमाः ॥ २०–७ [सा. ध.]
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः ।
इत्याश्रमास्तु जैनानां, सप्तमाङ्गाद्विनिसृता ॥ [चारित्रसार]

अर्थ—उपासकाध्ययन नामा सातवें अङ्ग में वर्णों की तरह क्रिया के भेद से ये चार आश्रम कहे गये हैं। १ ब्रह्मचारी २ गृहस्थ, ३ वानप्रस्थ ४ भिक्षु। मुनि धर्म के कथन में भिक्षु का तो वर्णन कर दिया, तथा गृहस्थाचार का भी कथन करदिया, वानप्रस्थ का वर्णन ग्यारहवीं प्रतिमा में करेंगे। यहां तो प्रथम-आश्रम ब्रह्मचर्य का वर्णन करते हैं।

ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन

"तत्र ब्रह्मचारिणः पंचविधा, उपनयावलम्बदीक्षागूढनैष्ठिकभेदेन ॥ [चांमुंडराय चारित्रासार पृ. २०]

अर्थात्—ब्रह्मचारियों के पांच भेद माने हैं यथा—१ उपनय २अवलम्ब ३ अदीक्षित ४ गूढ ५ नैष्ठिक। इनका खुलासा इस प्रकार है—

१ उपनय ब्रह्मचारि—यज्ञोपवीत लेकर, ब्रह्मचर्य से युक्त होकर विद्याध्यन करे, शास्त्रपाठी होकर पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर धर्मध्यान से अपनी आयु पूर्ण करे।

२ अवलम्ब ब्रह्मचारी—जो ब्रह्मचारी क्षुल्लक सरीखा भेष धारण कर विद्याध्ययन करे, पश्चात् विद्या विशारद होकर गृहस्थावस्था गृहण करे।

३ अदीक्षित ब्रह्मचारी—जो किसी भेष को धारण किये बिना ही ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याभ्यास करे। विद्या पढ़कर पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।

४ गूढ ब्रह्मचारी—जो बाल्य अवस्था से ही मुनि समान भेष धारण कर, मुनियों के संघ में रहकर, ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययन करता है, पश्चात् माता पिता या राजा आदि की प्रेरणा से, तथा क्षुधा आदि परीषह न सह सकने के कारण गृहस्थावस्था में पुनः प्रवेश करता है, वह गूढ ब्रह्मचारी है।

५ नैष्ठिक ब्रह्मचारी—जिसने आजन्म निष्ठा पूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर लिया है, वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी है। यह ब्रह्मचारी पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं कर सकता। यह सिरपर चोटी, और बदन में यज्ञोपवीत रखता है। सफेद कपड़े और कोपीन पहनता है। देव पूजा, गुरुओं की उपासना आदि धर्म साधन के कार्यों में यह सदा लवलीन रह घर में से या भिक्षा वृत्ति से भोजन करता है। इस प्रकार यह गृहवासी और गृहत्यागी दोनों तरह के होते हैं।

ब्रह्मचारी के त्यागने योग्य कर्म

ब्रह्मचारी को विकार करने वाले अनेक दोषों से बचना चाहिये यह बताते हैं।

आद्यं शरीरसंस्कारो, द्वितीयं वृष्यसेवनम् ।
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात् संसर्गास्तुर्यमिष्यते ॥ ७ ॥
योषिद्विषयसंकल्पः पंचमं परिकीर्तितम् ।
तदङ्गवीक्षणं षष्ठं संस्कारः सप्तमं मतम् ॥
पूर्वानुभोगसंभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम् ।
नवमं भाविनी चिन्ता, दशमं वस्तिमोक्षणम् ॥ ९ ॥ [ज्ञानार्णव]

अर्थ—१ शरीर का विकार रूप संस्कार न करे २ स्त्रियों की सेवन नहीं करे ३ गीत नृत्य वादित्र नाच आदि न देखे न सुने ४ स्त्रियों की सगति न करे ५ स्त्रियों के काम भोग की कल्पना मत करो ६ स्त्रियों के मनोहर अङ्गों को न देखना, ७ किसी स्त्री का अङ्ग दिखभी जावे तो चित्त मे उसका विचार मत करो ८ भोगे हुए भोगों को याद मत करो ९ आगामी काल संबंधी भोगों की इच्छा न करो १० शरीर से खोटी क्रिया करके वीर्य पात नहीं करो। ऊपर लिखे विकार के कारणों को नहीं मिलाना। यदि मिलें तो मन में शान्ति धारण कर उनको जीतना चाहिये। चित्त में उद्वेग नहीं पैदा होने देना यही वीरों का कर्तव्य है।

शील रक्षक नववाड का समयसार नाटक में बनारसीदासजी इस प्रकार उल्लेख करते हैं—

तियथलवास प्रेमरुचि निरखन, देपरिख भाषे मृदुबैन ।
पूर्वभोग केलिरस चिंतन, गुरुय अहार लेत चितचैन ॥
कर सुचि तन सिंगार बनावत, तियपर्यंक मध्य सुखचैन ।
मनमथ कथा उदरभर भोजन, ये नववाडि कही जिन बैन ॥

और भी कहा है:—

वैरागी अरु बांदरो, तीजी विधवा नारि ।
ये तीनों भूखा भला, धाया करे बिगार ॥

इस लिये पूर्ण सावधान रहकर विकार से बचना चाहिये।

देवदैत्योरगव्याल ग्रहचन्द्रार्कचेष्टितम्।
विंदन्ति ये महाप्राज्ञास्तेऽपि वृत्तं न योपिताम्॥ २४–१२॥ [ज्ञानार्णव]

अर्थ—जो महान् विद्वान् देव, दैत्य, नाग, हस्ती, ग्रह चन्द्रमा और सूर्य, इन सबकी चेष्टाओं को जानते हैं, वे भी स्त्रियों के चारित्र को नहीं जान सकते, क्योंकि स्त्री चारित्र अगाध है।

कुष्ठव्रणमिवाजस्रं, वाति श्रवति पूतिकम्।
यत्स्त्रीणां जघनद्वारं, रतये तद्विरागिणाम्॥'

अर्थ—स्त्रियों का जघन द्वार जो कि कुष्ट (कोढ़) के घाव समान निरन्तर भरता ही रहता है और दुर्गंध से युक्त रहता है, तब भी कामी पुरुषों के लिये वह रतिकारी है, यह बड़े आश्चर्य की बात है।

यस्याः संसर्गमात्रेण यतिभावः कलङ्क्यते।
तस्याः किंन कथालोपैर्भ्रूभङ्गैश्चारु विभ्रमैः १४–१४॥ [ज्ञानार्णव]

अर्थ—जिस स्त्री के संसर्ग मात्र सेही मुनिपना कलंकित हो जाता है, उसके साथ वार्तालाप करने, भौंह के टेढे पन, और सुन्दर विभ्रम विलासों के देखने से क्या मुनिपन नष्ट नहीं हो सकता ?

अनंतशक्तिरात्मेति श्रुति वस्त्वेव न स्तुतिः।
यत्स्वद्रव्ययुगात्मैव, जगज्जैत्रं जयत्स्मरम्॥"

अर्थ—इस कामदेव को जीतने की शक्ति इस आत्म देव में ही है, क्योंकि, आत्म अनंत शक्तिवाला है, यह श्रुति (सिद्धान्त) वास्तविक है, यथार्थ ही है, कोई स्तुति अर्थात् कोरी बड़ाई नहीं है। आत्म द्रव्य में लीन रहने वाला आत्मा ही जगत विजयी कामदेव को जीत-

लेता है। अठारह हजार शील के भेदों को समझ कर उनके भंगाभंग को बचाने से पूर्ण शील पालन होता है। सोही शील के १८००० भेदों का निरूपण करते हैं।

शील के १८ हजार भेद

स्त्री के मूल भेद दो-१ चेतन स्त्री २ अचेतन स्त्री। १ चेतन स्त्री तीनप्रकार की-१ मानुषी २ देवी, ३ तिर्यञ्चनी। २ अचेतन स्त्री भी तीन प्रकार की १ काष्ठकी २ पाषाण की (मिट्टी की) ३ चित्राम की (लेप की) इस प्रकार मिलाकर स्त्री छह प्रकार की होती है।

शास्त्रों में चेतन स्त्री संबंधी १७२८० भेद होते हैं, वे ये हैं—सामान्य चेतन स्त्री तीन प्रकार की १ मनुष्यणी, २ देवी, ३ तिर्यञ्चणी। इन के साथ पाप मन से वचन से काय से हुवा करता है, सो इन तीनों को गुणा करने से नव भेद हुए। इनकी प्रवृत्ति कृत, कारित अनुमोदना से होती है इसलिये इनसे गुणा करने सत्ताईस हुवे। यह पाप पांचों इन्द्रियों से होता है इनसे गुणित किया तो एक सौ पैंतीस (१३५) हुए। फिर यह चारों संज्ञाओं में विभक्त होते हैं, इनसे गुणित करने पर पाँचसों चालीस (५४०) हुए। द्रव्य से तथा भाव से गुणा करने पर १०८० हुए। फिर इनको मूल कषाय चार के उत्तर भेद १६ सोलह से गुणा करने पर १७२८० भेद हुए।

इस तरह स्त्री, ३ मन वचन काय ३, कृत कारित अनुमोदना ३, इन्द्रिय ५, संज्ञा ४, द्रव्य-भाव २, कषाय १६, इनको परस्पर गुणा करने से चेतन स्त्री संबंधी १७२८० हुए। यथा (३ × ३ × ३ × ५ × ४ × २ × १६ = १७२८०)। अचेतन स्त्री संबंधी शील विराधना के ७२० भेद होते हैं, उनका खुलासा इस प्रकार है। १ काष्ठ २ पाषाण ३ चित्राम की, अचेतन स्त्री। इनको मन तथा काय से गुणा किया, क्योंकि इन के वचन या कान तो हैं नहीं, जो इनसे कुछ कहकर समझावे, इसलिये ६ कोटि हुईं, इनको कृत, कारित अनुमोदना की प्रवृत्ति से गुणा किया तब अठारह भेद हुए। ये दोष पांचों इन्द्रियों से हुए इनको गुणा करने पर नब्बे भेद, उन को चार संज्ञाओं से गुणा किया तो तीन सौ साठ (३६०) भेद हुए। ये दोष द्रव्य और भाव से होते हैं उनके गुणा करने पर ७२० होगये इस तरह स्त्री ३, मन और काय २, कृत कारित अनुमोदना ३, इन्द्रिय ५, संज्ञा ४, द्रव्यभाव २। को परस्परगुणा करने से (३×२×३×५×४×२=इस प्रकार अचेतन स्त्री सात सौ बीस ७२०) भंग हुए। चेतन स्त्री संबंधी (१७२८०) + अचेतन स्त्री संबंधी ७२० = १८००० मिलाकर अठारह हजार भेद हुए।

इस प्रकार भगवत् कुंद कुंद स्वामी ने अष्ट पाहुड के शील पाहुड में अठारह हजार भेद करके समझाया है कि शील बिना भव सागर पार नहीं होता।

यहां कोई प्रश्न करे—देवी तथा मनुष्यों के परस्पर में शील के संबंध में कैसे दोष लग सकता है, क्योंकि देवी, तथा मनुष्य का संबंध तो शास्त्रों में कहीं नहीं बताया।

उत्तर—इस प्रकार शास्त्रों में मिलता है-जैसे-जब रामचन्द्रजी मुनि अवस्था में ध्यानारूढ थे, तब सीता का जीव सोलहवें स्वर्ग में देव हुवा था, उसने उनके पास आकर स्त्री के राग रूप कटाक्ष आदि भाव बताकर उनको चलायमान करना चाहा, रामचन्द्रजी तो किंचित् भी विचलित नहीं हुए, किन्तु कथाचित् भी चलित होते तो उनको देवाङ्गना कृत शील में दूषण लग जाता, इस प्रकार का दूषण संभव है।

प्रश्न—क्या औदारिक वैक्रयिक शरीर का संसर्ग होता है।

उत्तर—सामान्य रूप से संबंध तो नहीं होता, किन्तु आशावानों को स्पर्शादि कृत इस प्रकार का दोष अवश्य लग जाता है जैसे—किसी पुरुष या स्त्रीने मन्त्र द्वारा किसी देव या देवी का साधन किया, वह आकर प्रगट होवे और उस व्यक्ति का चित्त चलायमान हो जावे, तो मन और काय संबधी दोष अवश्य लग जाता है, इसमें संदेह नहीं।

अतः शील समान इस संसार में अन्य कोई पदार्थ नहीं। शीलवान् प्राणियों की देव भी सेवा करके अपने को धन्य समझते हैं।

कहा भी है:—

शील बडो संसार में, सब रत्नों की खान।
तीन लोक की संपदा रही शील में आन॥

शीलवान् दूसरी प्रतिमा में तो अपने बच्चे बच्ची आदि का ब्याह करा सकता है, सप्तम प्रतिमा धारी नैष्ठिक ब्रह्मचारी होने पर अपने बच्चों का विवाह आदि भी स्वयं न करावे, अन्य कुटुम्बी ही करावें।

ब्रह्मचर्य की महिमा

एकमेव व्रतं श्लाघ्यं ब्रह्मचर्यं जगत्त्रये।
यद्विशुद्धिं समापन्ना, पूज्यन्ते पूजितैरपि॥ ३॥ [ज्ञानार्णव ११ अध्याय]

अर्थ—यह ब्रह्मचर्य व्रत तीनों जगत में प्रशंसा करने योग्य है, क्योंकि जिन पुरुषों को इसकी निरतिचार विशुद्धि प्राप्त हुई है, वे पुरुष पूज्यों के द्वारा भी पूजे जाते हैं, जैसे-अरहंत भगवान् ब्रह्मचर्य व्रत की पूर्णता को प्राप्त हुए हैं, अतः उनकी पूजा मुनि और गणधरादि सभी पूज्य पुरुष करते हैं।

ब्रह्मव्रतमिदं जीयाच्चरणस्यैव जीवितम् ।
स्युः सन्तोऽपि गुणा येन, विना क्लेशाय देहिनाम् ॥ ४ ॥ [ज्ञानार्णव]

अर्थ—आशीर्वाद पूर्वक मुनि लोग भी इस व्रत की महिमा गाते हैं कि—यह ब्रह्मचर्य व्रत जयवन्त हो क्योंकि चारित्र का तो एक मात्र जीवन है, इसके बिना अन्य कितने ही गुण होवें वे सब जीवों को क्लेश के ही कारण होते हैं, इसलिये उन प्राणियों का भी धन्य भाग्य है जो इस व्रत को धारण करते हैं।

सप्तम प्रतिमा धारी दोनों तरह के होते हैं, गृहत्यागी और गृहवासी। गृहवासी ब्रह्मचारी, अष्टम नवमी प्रतिमा धारण के पहिले जब तक घर में रहे, तब तक साधारण गृहस्थी सरीखा भेष रक्खे, सादा कपड़े पहिने, उदासीन रूप से रहे। क्षुल्लक सरीखा भेष न बनावे, भिक्षा-वृत्ति करने वाला गृहत्यागी ब्रह्मचारी ही क्षुल्लक सरीखे भेष में रह सकता है। इसलिये गृहवासियों को भेष रखने की कोई जरूरत नहीं। सिर्फ उनका तो यही कर्तव्य है कि उदासीनता पूर्वक गृह में रहें किसी प्रकार ढोंग नहीं करें।

इस प्रतिमा धारी को चाहिये कि वह स्त्री वाची सवारी पर ही नहीं बैठे जैसे-हथिनी ऊँटिनी घोडी आदि चेतन सवारी। दिन में एकबार ही भोजन करे, दूसरी बार जल पीना होवे तो पीलेवे, भोजन नहीं करे, ऐसी आदत डाल लेवे। कारण की व्रतों को बढाने की अपेक्षा है। १ स्नान सादे तौर से करे २ साधारण वस्त्र पहिने, ३ जूते कपड़े के ही पहिने ४ छाता न लगावे ५ काम कथा, राग कथा, स्त्री कथा, देश कथा, चौर कथा, राज कथा न करे ६ भद्द वचन कभी न बोले ७ हंसी दिल्लगी रूप वार्ता न करे ८ पलंग पर कोमल वस्त्र बिछाकर न सोवे ९ अपने बिस्तर पर अन्य को न सुलावे १० अपने पहिनने के वस्त्र थोड़े से प्रासुक जल से स्वयं धोवे, दूसरों से न धुलावे, ज्यादा खराब होगये होंतो दूसरे बदल लेवे।

ऊपर लिखे अनुसार स्त्रियों को भी सब विकार और विकार के साधनों से बचना चाहिये-क्योंकि उनको भी काम ज्वरादि होते हैं जैसा कि कहा भी है—

"मूर्च्छांगमर्दतृट्नेत्रचापल्य कुचवक्रता ।
स्वेदस्यादतिदाहश्च, स्त्रीणां कामज्वरो भवेत् ॥"

अर्थात्—काम ज्वर से स्त्रियों के मूर्च्छा, अङ्गसादन, पिपासा, नेत्रों में चपलता कुचों में वक्रता, स्वेद अतिदाह आदि होते हैं।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारी को चाहिये कि वह बाह्य में तो विराग भेष रक्खे और अन्तरंग से विकार भावों को छोड़ता रहे, तभी कल्याण हो सकता है अन्यथा नहीं।

(८) आरंभ त्याग प्रतिमा का स्वरूप

जो आरंभं ण कुणदि अण्णं कारयदि णेय अणुमण्णो।
हिंसासंतट्ठमणो, चत्तारंभो हवे सोहि ॥ ३८५ ॥ [स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा]

अर्थ—जो श्रावक गृह कार्य सम्बंधी कुछ भी आरंभ न करे, अन्य से नहीं करावे, करे जाको भला नहीं जान, सो हिंसा से भय भीत आरंभ त्याग प्रतिमा धारी है।

सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारंभतो व्युपारमति।
प्राणातिपातहेतोः, यो सावारंभविनिवृत्तः ॥ १४४ ॥ [रत्न करण्ड]

अर्थ—जो श्रावक हिंसा से भय भीत होकर आरंभ कहिये-असि मसि कृषि, सेवा शिल्प, वाणिज्य इन संसार संबंधी क्रियाओं को और सेवा को सम्पदा को भी छोड़ देता है, संतोष धारण कर ममता घटाता है, अर्थात् ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता जिससे किसी भी प्राणी को कोई बाधा होवे, वह आरंभ त्याग प्रतिमा धारी है।

विशेष—इसने सब ऐसे आरंभ का त्याग किया है जो संसार का बढ़ाने वाला हो। जो मोक्ष मार्ग का साधन भूत होसके, ऐसा आरंभ करसता है। जैसे—स्नान, दान जिनेन्द्र पूजा। गृहत्यागी आरंभ त्यागी के तो यह व्रत नव कोटि की विशुद्धि से पल सकता है, वह न स्वयं आरंभ करता है, न कराता है, न करते हुए अन्य को अच्छा समझता है।

परन्तु गृहवासी के तो यह छह कोटि से ही पलेगा। क्योंकि उसे कुटुम्बियों के साथ रहते हुए अनुमति से बचना मुश्किल है। उसे तो हानि लाभ बताना ही पड़ता है। हां यह नहीं कहता कि तुम इस कार्य को इस प्रकार करो। फिर भी हानि लाभ की वार्ता से उसके अनुमोदन के अभिप्राय को कुटुम्बी समझ जाते हैं। इसलिये ही तीन कोटि घट जाती है। इसीसे गृहस्थी को ६ कोटि व्रत की शक्ति कही है।

यह व्रती ऐसा कभी नहीं कह सकता कि तुम यह कार्य ऐसा करो या कराओ, परन्तु पूछने पर अपने भोजन की आंखडी, त्याग व्रतआदि बता देगा। हानि कारक वस्तुओं को भी समझा देगा, परन्तु यह नहीं कहेगा कि भोजन में ऐसी २ वस्तुएं बना लेना, इस प्रकार के कहने का यह त्यागी है।

आरंभ त्यागी श्रावक के धार्मिक आरंभ में जैसे देव पूजा के लिये जल भर कर लाना, द्रव्य को शोधना, फटकना, इनमें भी हिंसा जरूर हुवा करती है। तथा गृहस्थ अवस्था में रहता है, तब कुटुम्ब के, कृषि वाणिज्य आदि का बादर दोष तो आरंभ त्याग छूटगया परन्तु सूक्ष्म दोष रहता है, जो कि ग्यारहवीं प्रतिमा तक लग ही जाता है, यहां टलता नहीं। इस प्रकार पं० जयचन्दजी छाबड़ा सर्वार्थ सिद्धि की टीका में लिखते हैं, ग्यारहवी प्रतिमा के अन्त में जब ये दोष छूटते हैं, वहां ही व्रत महाव्रत रूप में परिणत हो जाते हैं।

आरंभ त्यागी न तो स्वयं भोजन बनाता है न अन्य से बनाने को कहता है। अपने घर पर या पराये घर पर न्योता से या बिना न्योते के ही जीम आता है। जिह्वा इंद्रिय को जीतता हुवा, जिस गृहस्थी के भोजन को गया उसकी गृहस्थी के अनुसार जो भोजन बना है, उसमें रागद्वेष छोड़कर शान्ति के साथ अल्प भोजन करलेता है खर्च के वास्ते प्रासुक जल से कमण्डल भर लाता है, पीवे या नहीं पीवे।

इस प्रतिमा के धारण करने से पूर्व, जितना भी अपने पास धन या जायदाद होये, उसका विभाग करे। अपने पास रखना होवे सो तो, अपने पास रक्खे, जिसमें अपना अपवाद न होवे, पश्चात् बची हुई सम्पत्ति को कुटुम्बी जनों को विभाग करके बांट देवे, जिससे उनको संतोष रहे। जितनी अपने पास संपदा रक्खी है, उससे तीर्थ यात्रा करे, दूसरों से मांग कर नहीं, नया धन बढाने की कोशिश न करें।

कदाचित् किसी पाप कर्म के उदय से अपने पास के धन को कोई दायादार, राजा, चोर, हर ले जावे तो उसमें खेद माने नहीं, न आकुल व्याकुल होवे. कर्म का उदय जान संतोष धारण करे। उस धन में से स्वयं या अन्य के लिये, भोजन में खर्च न करे, भोजन तो अपने या अन्य के घर पर करे, शेष दान तीर्थ या आदि में उस धन को लगावे, या जिसकी जैसी योग्यता हो वह उस समय वैसा नियम रक्खे।

प्रश्न—आरंभ त्यागी को कदाचित् कोई भोजन के लिये न बुलावे, तो स्वयं बनाकर खावे या नहीं, उसमें निज द्रव्य लगावे या नहीं, या क्या करे ?

उत्तर—आरंभ त्यागी को पहिले अपना द्रव्य क्षेत्र काल भाव देख लेना चाहिये, कि इस रूप मेरी कषाय शान्त हुई है या नहीं। प्रथम तो धर्मात्माओं को कभी ऐसा अवसर आता ही नहीं कि उसे धर्म के साधन न मिलें या साधन कराने वाले न हों, तथा ऐसे क्षेत्र में जावे ही नहीं जहां संयम का घात होता हो। कभी अकेला, बिना लगाम घोडे की तरह न रहे, हमेशा अपने सरीखे त्यागी व्रतियों के साथ ही रहे जिससे

सर्वदा धर्म साधन बनता रहे। अकेला फिरने से व्रती भी स्वच्छन्द प्रमादी और दूषण युक्त हो जाता है, जैसा कि बहुधा आजकल देखा जाता है। अतः इस स्वच्छन्दता से सदा बचे। धर्मात्मा जब वह प्रतिमा ग्रहण करे तब देखे कि मेरी स्त्री या मेरा पति, या पुत्र बांधवादि मुझे धर्म साधन करावेंगे या नहीं, तब जैसा अवसर हो वैसा व्रत धारण करे तो ठीक, अन्यथा व्रत लेकर छोड़ने से स्वयं का पतन और धर्म की हंसी होती है। इसलिये इतनी कषाय कम गई हो तभी ये व्रत ग्रहण करे। सागार धर्म में कहा है—

यो मुमुक्षुरघाद्बिभ्यत्त्यक्तुं भक्तमपीच्छति।
प्रवर्तयेत्कथमसौ प्राणिसंहरणीः क्रियाः ॥ २२ ॥—७

अर्थ—जो (मुमुक्षु) मोक्ष की इच्छा करने वाला आरंभ त्यागी पाप से डरता हुवा, भोजन को भी छोड़ने की इच्छा करता है, वह जीवों को नाश करने वाली क्रिया कैसे करेगातथा करावेगा ?

प्रतिमा धारण करने के पहिले, उस व्रत का स्वरूप पूरी २ तरह समझ लेवे, बाद में द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव देखे, वचित होवे, और पल सके तो व्रत रूप प्रतिज्ञा ग्रहण करे अन्यथा नहीं। केवल देखा देखी करने से तो व्रत भ्रष्ट और पापी होना पड़ता है, जिससे बड़ा अकल्याण होता है. क्योंकि स्वरूप समझे विना पालन कैसा ? सप्तम प्रतिमा तक अपनी आजीविका संबंधी कुल काम अपने हाथ से कर सकता है जैसे भोजन बनाना पानी लाना, स्वतन्त्र रूप से उधर इधर जाना आदि। सो इस प्रतिमा में नहीं कर सकता क्योंकि यह पद ऊँचा है, अपने घर में योग्य पुत्रादि होवें तो आरंभ त्याग करे, नहीं तो सप्तम प्रतिमा में ही बना रहना ठीक है। उच्च पदस्थ हो कर नीचा आचरण करके, 'ऊँची दुकान फीके पकवान' इस कहावत को चारितार्थ न करे। इस प्रतिमा धारी को सवारी मात्र का त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि—[१] अमितगति श्रावकाचार [२] गुरूपदेशश्रावकाचार [३] भगवती आराधना आदि शास्त्रों का कथन है कि सवारी चेतन हो या अचेतन उनमें जीव हिंसा हुये विना रह नहीं सकती। इसलिये इस का त्याग किये विना आरंभ त्याग कैसा, ? सवारी में बैठने से स्वाधीनता तथा विरक्ति का तो नाश ही हो जाता है। हां नदी पार जाना आदि अनिवार्य होवे तो नाव में बैठने का त्याग नहीं है। क्योंकि इसमें प्रमाद जनित दोष नहीं है, इसलिये इसका प्रायश्चित्त बताया है सामान्य सवारी में हिंसा और प्रमाद दोनों होते हैं इसलिये सर्वथा हेय है। पुत्र पुत्री के विवाहादि का त्याग तो सप्तम प्रतिमा में ही हो जाता है, कोई आशय लेकर कुटुम्बी जन राय पूछे तो सम्मति दे सकता है. वस्त्र मैले हो जावें तो अल्प जल से स्वयं धोले, घर वालों से न कहे, यदि वे विना कहे. ही धोवें तो सचित्त जल से न धोना ऐसा कह देवे। मकान आदि बनवाने का तो व्रत प्रतिमा में ही निषेध है। इस प्रतिमा मे अल्प भी जीव हिंसा का आरंभ न करे। रात्रि को दीपक न जलावे, गमनागमन न करे, मंदिर में स्वाध्याय को जा सकता है यदि दीपक लगा होवे तो अन्यथा नहीं। पूजन प्रक्षाल, सौर, सूतक या चांडालादि के स्पर्श की शुद्धि के लिये अल्प जल से

यत्न पूर्वक स्नान कर लेवे, वैद्यक ज्योतिष मन्त्र, यंत्र तन्त्रादि न करे, पंखा न करे इसे वायुकायिक जीवों की विराधना होती है। नदी कूप से पानी, तथा खानों से मिट्टी खोदकर न लावे, चातुर्मास मे ग्रामान्तर में भ्रमण न करे एक ही स्थान पर रहे। त्यागियों को व्रत प्रतिमा से ही इन बातों का अभ्यास करना तथा पालन करना प्रथम कर्तव्य है।

(६) परिग्रह त्याग प्रतिमा का स्वरूप

बाह्येषु दशसु वस्तुषु, ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः।
स्वस्थः संतोषपरः, परिचितपरिग्रहाद्विरतः ॥ १४५ ॥ [रत्नकरण्ड श्रा०]

अर्थ—धन धान्य, आदि दस प्रकार के सम्पूर्ण परिग्रह से ममता छोडकर, स्वस्थ तथा संतोष युक्त. निर्ममत्व में जो लीन हो जाता है वह ली हुई आठ प्रतिमाओं को विधि पूर्वक पालता हुआ धर्मात्मा श्रावक रागद्वेषादिक अभ्यंतर परिग्रह और क्षेत्र वास्तु आदि बाह्य परिग्रह मे से आवश्यकतानुसार वस्त्र पात्रों के सिवाय शेष परिग्रह को त्यागने योग्य जान मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदना कर नव कोटि या छह कोटि से त्यागता है और संतोष धारण करता है। तथ शीत उष्णता की वेदना दूर करने के वास्ते अल्प मूल के पात्र वस्त्र को छोड सर्व प्रकार से धन संपदा का त्याग करे। वही परिग्रह त्याग प्रतिमा धारी श्रावक कहलाता है।

परिग्रह के दश भेद

क्षेत्रं, वास्तु, धनं, धान्यं, द्विपदं च चतुष्पदम्।
शयनासनं च यान च, कुप्यं भाण्डमिति दश ॥ १ ॥"

अर्थ—नवमी प्रतिमा का धारक उक्त दश प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्यागी, तथा आभ्यंतर परिग्रह का विचारक होता है, भगवन् उमास्वामी ने इन का ही नय भेद रूप खुलासा किया है। अब इस दश प्रकार के परिग्रह का खुलासा करते हैं।

१ क्षेत्र—बाग बगीचा, अनाज पैदा होने के खेत आदि हैं। २ वास्तु—घर हवेली महल मकान, किला आदि। ३ धन—सोना, चांदी गहने रुपया पैसा मुद्रा आदि। ४ धान्य—चांवल, गेंहू चना ज्वार, बाजरा, आदि। ५ द्विपद—मुनीम, दीवान, नौकर टहलवे. पुरुष, स्त्री आदि, ६ चतुष्पद—गाय, भैंस, घोडा, घोडी, ऊँट, हाथी आदि पशु,। ७ शयनासन - तख्त, मेज, कुरसी, पाटा मुड्ढा, आदि। ८ यान—पालकी,

नालकी, पिंजस, बग्गी, मोटर, तागा, विमान आदि। ९ वस्त्र—सूती, रेशमी, जरी आदि के बने ओढने बिछाने पहिनने आदि के कपडे जैसे रजाई गद्दी, तकिया कमीज, कोट आदि। १० वर्तन—चांदी, सौने, तांबा, पीतल, कनीर आदि के बने, खाने पीने आदि के भोजन के वर्तन हैं। इस प्रकार के दस बाह्य परिग्रह के भेद हैं।

अब चौदह प्रकार के अन्तरंग परिग्रह बताते हैं।

"मिथ्यात्ववेदहास्यादिषट्कषायचतुष्टयं।
रागद्वेषौ च संगास्युरन्तरंगाश्चतुर्दश ॥ १ ॥"

अर्थ—१ मिथ्यात्व २ स्त्रीवेद ३ पुरुष वेद ४ नपुंसक वेद ५ हास्य ६ रति ७ अरति, ८ शोक ९ भय १० जुगुप्सा ११ क्रोध १२ मान १३ माया १४ लोभ, (रागद्वेष) ये अन्तरंग परिग्रह हैं। इनका खुलासा इस प्रकार है—

मिथ्यात्व—आत्मा को मदिरा पान की तरह उन्मत्त करने वाला, संसार के महान् कष्टों में फिराने वाला, ग्यारहवें गुणस्थान से भी गराने वाला यह सबसे बड़ा पाप मित्यात्व है।

वेद—स्त्री, पुरुष, नपुंसक के भेद से तीन होते हैं संसार में, महान् हिंसक भाव, और कलह इसी से होता है। ससार में अनेक दुखों का अनुभव इसी की आशा से होता है।

हास्यादि—हास्य, रति अरति शोक, भय, जुगुप्सा इन छह का जीव के अष्टम गुण स्थान तक उदय रहता है, जीव को क्षायिक श्रेणी मोंडने भी नहीं देता। आत्म हित में पूरा २ बाधक तथा जीव इनके उदय से कभी संतोष धारण नहीं कर सकता।

कषाय चार—क्रोध, मान, माया, लोभ-इनके वश होकर जीव क्या क्या अनर्थ नहीं करता।

रागद्वेष—यह दोनों, अनादि से अनन्त काल तक आत्मा को ससार में भटकाते हैं। कहा भी—

संसार मूल सो राग है, मोक्षमूल वैराग।

इन चौदह प्रकार के परिग्रहों को छोड़े बिना आत्मा का कल्याण नहीं होता। इसलिये ज्ञानी इनका त्याग करें। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है—

जो परिवज्जइ गंथं, अब्भंतरबाहिरं च साणंदो ।
पावंति मरणमाणो, णिग्गंथो, सो हवे णाणी ॥ ३८६ ॥

अर्थ—जो प्राणी, बाह्य तथा अभ्यंतर परिग्रह को पाप का कारण जानकर सानन्द छोड़ देता है, वह ज्ञानी नवमी प्रतिमाधारी परिग्रह त्यागी है।

जिनको सच्चा वैराग्य है, वे इस आपदा तथा पाप रूप परिग्रह को त्यागते हुवे, बड़ा सुख मानते हैं।

बाहिरगंथविहीणा, दलिद्दमणुणासहावदो होंति ।
अब्भंतर गंथं पुण, ण सक्कदे कोवि छंडे दुं ॥ ३८७ ॥ [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

दरिद्र तो बाह्य परिग्रह से स्वभाव से ही रहित है। इसलिये इसके त्याग में कोई अचंभा नहीं, किन्तु आभ्यंतर परिग्रह को छोड़ने में कोई भी समर्थ नहीं है। जो आभ्यंतर परिग्रह छोड़े उसी की बड़ाई है, सामान्य से ममत्व परिणाम ही अंतरंग परिग्रह है, उसका त्यागी ही सच्चा परिग्रह त्यागी है। यह विचारणीय बात है कि—बाह्य परिग्रह का त्याग अन्तरंग मूर्च्छा के घटाने के वास्ते किया जाता है, न कि सिर्फ लोगों को बताने के लिये। इसलिये इसको छोड़ते हुए भी मन में आनन्द होता है। किसी के पास बाह्य परिग्रह तो कुछ भी न हो पर अन्तरंग में लालसा विशेष रूप से है तो वह पूरा परिग्रहधारी है। कहा भी है कि—

"बाह्यग्रंथविहीना, दरिद्रमनुजाश्च पापतः सन्ति ।
पुनरभ्यन्तरसंगत्यागी, लोकेऽतिदुर्लभोजीवः ॥"

आचार्यों ने इसकी व्याख्या इसही रूप में कही है। तो कहना होगा कि मूर्छा ही ममत्व का कारण और वही संसार रूप बंध का कारण है। अतः इस प्रतिमा को धारण कर इस परिग्रह रूप बोझ को हटाने में ही मनुष्य की मनुष्यता है।

अर्थात्—पाप के उदय से बाह्य परिग्रह रहित दरिद्री मनुष्य तो बहुत है, किन्तु अभ्यंतर परिग्रह का त्यागी जीव लोक में अत्यंत

दुर्लभ है। इस ममत्व परिणाम रूप भूत को हटाना ही मनुष्य की मनुष्यता है।

जिस समय परिग्रह त्याग प्रतिमा धारण करने के भाव हों तब शीतोष्ण की वेदना निवारणार्थ अल्प मूल्य के सादे वस्त्र शौचादि के निमित्त जल पात्र, जीमने के लिये कुछ बर्तन रक्खे, बाकी, अन्य सब, धन धान्यादिक परिग्रह को, मन वचन, काय कृत कारित अनुमोदना से त्याग देवे।

समाधि तन्त्र में भी लिखा है कि पहिनने ओढने को दुपट्टा तथा एक छुभा हाथ में रक्खे, जिससे बैठे तब जीव जन्तु को बचाने के लिये भूमि को झाड़दे, या अन्याही की पूजणी राखे। बिस्तर पर नहीं सोवे, चटाई रक्खे उसीपर सोवे। भोजन पात्र को जीमकर, मांज कर हाथ का हाथ ही ले आवे, गृहस्थ घर न छोड दे, जिसमें देरी से मजने में असंयम की संभावना रहे। बिना दिया हुवा, जल व मिट्टी भी ग्रहण न करे।

कपड़े मैले होजावें, तो कुटुम्बी जन धो देवें तो ठीक, नहीं तो उनपर किसी तरह का दबाव न डाले। ऐसे मकान में न रहे जहां राग वर्द्धक कारण मिलें। कुटुम्बी जन टहल न करें तो भी चित्त मे क्षोभ न करे। नोकर चाकर आदि का प्रयोग न रक्खे, स्वतन्त्र स्वयं कार्य करे श्री जिनेन्द्र की भी भावों से ही पूजा करे द्रव्य पूजा न करे। क्योंकि देव पूजा का मुख्य उद्देश त्याग रूप है, सो यहां पर सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग कर ही चुके। सिवा यज्ञोपवीत के शरीर पर किसी प्रकार का आवरण दागीना आदि न रक्खे। मठ या मंदिर में ठहरे। भोजन के समय, जब अपने घरके या अन्य साधर्मी गृहस्थ बुलावे, तब उनके घर पर शांति पूर्वक जीम आवे। घर को छोड़ देवे, तब से गृह संबंधी सौर सूतक आदि न माने न पालें।

गृहत्यागी विधि

तातायथावदस्माभिः पालितोऽयंगृहाश्रमः।
विरज्यैनं जिहासूनां, त्वमद्यार्हसि न पदम्॥ २५। ७॥ [सा. ध.]

अर्थ—पुत्र बांधव आदि जो अपनी गृहस्थी को चलाने योग्य हों, उनको अपने परिग्रह रूप भार को सौंपदे। देव शास्त्र गुरू या श्रावक पंचों की साक्षी पूर्वक, जो कुछ भी दान पुण्यादि करना होवे सो करके उस उत्तराधिकारी से कहे—भाई इस परिग्रह रूपी गाड़ी के भार को आजतक हमने संभाला। अब इससे हमारी विरक्ति होगई है इसलिए हमारा स्थान तुम ग्रहण करो।

गृहस्थ का कर्तव्य है कि जब वह इस प्रतिमा को धारण करे तब अपना सारा उत्तरदायित्व अपने किसी भी योग्य उत्तराधिकारी को सौंपदे । गृह त्याग की परम्परा ऐसी ही है । पुराणों में इस प्रकार के उपाख्यान मिलते हैं कि मुनि दीक्षा लेने वाले राजाओं ने अपने राज्य का उत्तरदायित्व दूसरोंपर डाले बिना गृहत्याग नहीं किया है । एक राजाने तब तक गृहत्याग नहीं किया था जबतक उसके संतान नहीं हुई थी । इसका अर्थ इतना ही है कि गृहत्यागी को यथासंभव गृह प्रबंध का उत्तरदायित्व दूसरों पर डालकर अपनी जिम्मेवरी से मुक्त होना चाहिए ।

इस तरह नवमी प्रतिमा का वर्णन किया । सातवीं से इस प्रतिमा तक वर्णी संज्ञा होती है ।
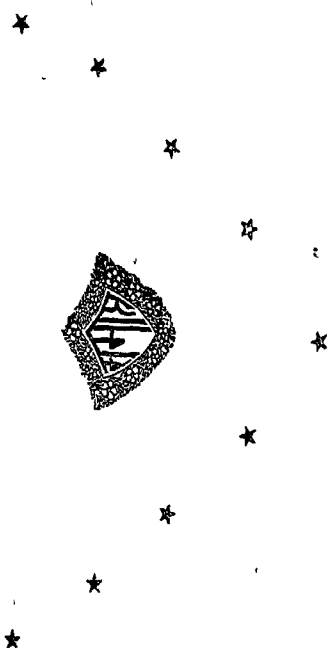
अथ उत्तम नैष्ठिक साधकाधिकार

संयम—प्रकाश

साधक के तीन भेद

उत्तम—ऐलक, मध्यम—क्षुल्लकक्षुल्लिका और जघन्य दशम प्रतिमावाला पुरुष हो या स्त्री हो जिसने परिपूर्ण रीति से नैष्ठिक के व्रतों में दोषों को बचाये हों वही साधक हो सकता है।

दशम प्रतिमा का स्वरूप

नवनिष्ठापरः सोऽनु मतिव्युपरतः त्रिधा ।
योनानुमोदते ग्रंथमारंभं कर्म चैहिकम् ॥ ७ । ३० ॥ [सागारधर्मामृत]

अर्थ—जो पूर्वोक्त नव प्रतिमाओं के व्रत को पूर्ण रीति से पाल करके मन वचन काय से धन धान्यादिक परिग्रह की तथा कृषि आदिक आरंभ व पंच सून्यादिक की, या इस लोक सम्बन्धी विवाहादिक कार्यों की अनुमोदना नहीं करता है—अर्थात् उक्त कार्यों के विषयों में अनुमति नहीं देता है, वह श्रावक अनुमति त्याग प्रतिमाधारी कहलाता है। वह उदासीन होता हुआ घरमें या मठ में, मण्डप में अथवा चैत्यालय में भी रहे। भोजन के लिये घर पर अथवा अन्य श्रावक बुलावे उसके यहां भोजन कर आवे। मेरे लिये अमुक वस्तु बनाओ ऐसा नहीं कहे। जो कुछ गृहस्थ के यहां बनाहो-उसी का भोजन कर आवे। यह ध्यान में रहे कि नवमी प्रतिमा तक स्त्री पुत्रादिक व मित्र बांधवादिकों से गृह सम्बन्धी पंच सून्य तथा पट् प्रकार आजीविका के कार्य-अथवा पुत्र वगैरह के विवाह आदि में जो वे सम्मति मांगते थे सो तब तो देता था-किन्तु अब कृत कारित अनु मोदना से आशय सम्मति मन्तव्य वगैरह कुछ भी नहीं दे सका तथा वह इस प्रकार भी नहीं कहता कि यह कार्य तुमने अच्छा किया या बुरा। वह सदैव संतोष में ही मग्न रहे। उदासीनता पूर्वक स्त्री पुत्र मित्रबांधवादिकों से ममत्व घटाकर अलग रहता है और न उनका सोर सूतक मानता है और न उनके यहां विना जरूरत जाता है, धर्म कार्य में रोकटोक नहीं। भोजन समय में कुटम्यादिक या अन्य साधर्मी पहले कहलावे उनके जीम आवे। न्योता किसी का नहीं माने। अपने अंतराय कर्म के क्षयोपशम के अनुकूल जो कुछ खट्टा मीठा खारा अलोना चिकना रूखा जैसा मिले वैसे भोजन से इस क्षुधा रुप अग्नि को प्रशान्त करे। पर यह ध्यान रखे कि भोजन सिद्धान्तानुकूल शुद्ध हो। वह किसी के अच्छे या बुरे को अपने मन में चिन्तवन नहीं करे। तथा सदैव स्वाध्याय व धर्म चर्चा में ही लगारहे और धर्म ध्यान के अतिरिक्त अन्य कथा कभी नहीं करे। लौकिक-पापवर्धक आदि उपदेश कभी भी नहीं देवे-भूल कर भी नहीं देवे। इस प्रकार का हमेशा ध्यान रखना चाहिये।

जो निर्ममता के ऊपर निर्भर है वह यह भी विचार करता है कि मैं—पूर्ण जितेन्द्रिय होकर अजर अमर पदका कारण भिक्षा भोजन रूपी अमृत का पान करूंगा।

स. प्र.

इत्युक्तैस्तैरनुज्ञाते गृहान्निर्गत्य सोत्कधीः ।
वनं गत्वा गुरोरन्ते याचेतोत्कृष्टतत्पदम् ॥ ८-५७ ॥ [धर्म संग्रह]

अर्थ—सर्व प्रकार से अपने कुटुम्बी जनों से क्षमा कराकर उनकी आज्ञा लेकर घरसे निकलकर वनमें जाकर और वहां गुरुओं के पास स्थित होकर उत्कृष्ट श्रावक पदको याचना (प्रार्थना) करता है ।

इतिचर्यां गृहत्यागपर्यन्तानैष्ठिकाग्रणीः ।
निष्ठाय साधकत्वाय पौरस्त्यपदमाश्रयेत् ॥ ७-३६ ॥ [सागार०]

अर्थ—नैष्ठिक श्रावकोंमें मुख्य अनुमति विरति प्रतिमा वाले श्रावक को, पूर्वोक्त कथनानुसार गृहत्याग है अंतमें जिसके, ऐसे गृहस्थाचार को समाप्त करके आत्म शुद्धि के लिये आगे के स्थान को अर्थात् उद्दिष्टत्याग प्रतिमा को ग्रहण करना चाहिये ।

(११) उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का स्वरूप

जो नव कोडि विसुद्धं भिक्खायरणेण भुंजदे भोज्जम् ।
जायण रहियं जोग्गं उद्दिट्ठाहार विरओस्सो ॥३९०॥ [स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा]

अर्थ—जो श्रावक भोज्य जो आहार उसको नवकोटि विशुद्ध कहिये मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना का आपको दोष नहीं लगावे-ऐसा भिक्षाचरण कर लेवे-वहां पर भी याचना रहित लेवे । मांगकर नहीं लेवे-तथा वह भी योग्य हो वह लेवे, सचित्त आदि अयोग्य होवे सो नहीं लेवे । घर छोड़कर मण्डप में ही रहे । निमित्त किये हुए आहार को नहीं लेवे । सो उद्दिष्ट विरति श्रावक होता है ।

इसही प्रकार सागार धर्मामृत में व रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है । इस ही प्रकार अनेक श्रावकाचारों में बताया है सो ही बताते हैं ।

गृहतोमुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य ।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन् नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥१४७॥ [रत्नकरण्ड श्राव.]

अर्थ—दशम प्रतिमाधारी श्रावक अपने कुटुम्बियों को सम्पूर्ण प्रकार से संतोष करा के गृहरूपी जंजाल फांसी को तोड़कर-गृहसे निकल कर वन में-जहां पर यति (मुनि) वर्ग रहते हैं, ऐसे वन में गुरुओं के समीप व्रत (ग्यारहवीं प्रतिमा) ग्रहणकर तप करता हुआ भिक्षावृत्ति से भोजन करता है।

वह केवल लंगोटी के सिवाय एक खण्ड वस्त्र रखता है। जिससे सिर ढांके तो पांव खुले रहें। और पांव ढांके तो सिर खुला रहे उसको खण्ड वस्त्र कहते हैं। उसको रखने वाला उद्दिष्ट त्याग ग्यारहवीं प्रतिमा धारी कहलाता है। और भी कहा है—

तत्तद्व्रतास्त्रनिर्भिन्नश्वसन्मोहमहाभटः ।
उद्दिष्टं पिंडमप्युज्केदुत्कृष्टः श्रावकोऽन्तिमः ॥३७·७॥ [सागारधर्मामृत]

अथ—उन पूर्वोक्त व्रत रूपी शस्त्रों के प्रहार से अत्यन्त नष्ट होकर के भी-जीवित श्वास लेता हुआ है मोह रूपीभट जिसके-ऐसा अन्तिम उत्कृष्ट ग्यारहवीं प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक अपने उद्देश्य से बनाये हुए भोजन को तथा उपार्धशयन और आसन आदिक को भी जो त्याग देता है वह उद्दिष्ट विरति श्रावक कहलाता है।

पहले दशमी और ग्यारहवीं प्रतिमा को उत्कृष्ट श्रावक और भिक्षुक विशेषण सागार धर्मामृत में दिये हैं। इस श्लोक में केवल ग्यारहवीं प्रतिमा को ही उत्कृष्ट कहते हैं।

चारित्र मोह रूपी महाभट के ऊपर पूर्वोक्त दश प्रतिमा रूपी तीक्ष्ण अस्त्रों का प्रहार जिसने किया है तथापि मुनि होने के लिये उस मोह का प्रतिबंधक होने से वह दशमी प्रतिमाधारी के श्वास भर रहा है। अतः उसके उन्मूल करने के लिये जो उद्दिष्ट भोजन को तथा आसन आदि को भी ग्रहण नहीं करता है। तथा मुनियों के समान अनुद्दिष्ट ग्रहण करता है वही ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक होता है।

इस प्रकार के श्रावक जो उत्कृष्ट हैं उसके भी भेद होते हैं उसे बताते हैं।

उद्दिष्ट विरती श्रावक के भेद

सद्वेधा प्रथमः श्मश्रुमूर्धजानपनाययेत् ।
सितकौपिनसव्यानः कर्त्तर्या वा क्षुरेण वा ॥ ३८-७ ॥ [सागारधर्मामृत]

अर्थ---उद्दिष्ट विरति श्रावक दो प्रकार के होते हैं। क्षुल्लक और ऐलक। इनका पृथक् २ आचरण होता है। जैसे प्रथम क्षुल्लक श्रावक-सफेद लंगोटी और चद्दर रक्खे तथा कैंची अथवा छुरे से अपनी मूंछ दाढ़ी और सिरके बालों को बनवावे। कांख आदि में बालों को बनवाने का इसके लिये विधान नहीं है।

क्षुल्लक के कर्त्तव्य

स्थानादिषु प्रतिलेखेत्मृदूपकरणेन सः ।
कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवासं चतुर्विधम् ॥ ३९-७ ॥ [सागारधर्मामृत]

अर्थ---वह प्रथम श्रावक (क्षुल्लक) कोमल प्राणियों को बाधा नहीं पहुंचावे। इस प्रकार का कोमल उपकरण वस्त्रादि या पीछी आदि से प्रतिलेखन मार्जन करना) करे। और प्रत्येक मास की दोनों अष्टमी और दोनों चतुर्दशी को इस प्रकार चारों पर्व दिनों में चार प्रकार के खाद्य स्वाद्य लेह्य और पेय पदार्थों का त्याग रूप उपवास करे। इस प्रकार के श्रावक क्षुल्लक भी दो प्रकार के होते हैं।

क्षुल्लक के दो भेद

जैसे प्रथम भेद त्रिवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य,) दूसरा भेद स्पर्श शूद्र---

प्रायश्चित्त चूलिका में टीकाकार पं० पन्नालालजी सोनी पृष्ठ २१२ (मुद्रितप्रति) पर लिखते हैं---

कारिणो द्विविधा सिद्धा, भोज्याभोज्यप्रभेदतः ।
भोज्येष्वेव प्रदातव्यं, सर्वदा क्षुल्लकव्रतम् ॥ १५४ ॥

अर्थ—शूद्र भोज्य और अभोज्य के भेद से दो तरह के हैं। जिनके यहां का आहार पानी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य खाते पीते हैं वे भोज्य कारु होते हैं। इनसे विपरीत अर्थात् जिनका आहार पानी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं खाते पीते वे अभोज्य कारु कहलाते हैं।

इनमें से भोज्य कारुओं (भोज्य शूद्रों) को ही क्षुल्लक दिक्षादेनी चाहिये। अभोज्य शूद्रों को नहीं। और भी कहा है—

दुइयंच वुत्तलिंगं उक्किट्ठं अवर सावयाणं च।
भिक्खंभमेई पत्तो समिदि भासेण मोणेण ॥ २१ ॥ [षट्प्राभृत सूत्रपाहुड]

टीकायां - द्वितीयं चोक्तं लिंगं वेषः उत्कृष्टं लिंगं अवर श्रावकाणां च गृहस्थश्रावकाणां सोऽवरश्रावकः भिक्षां भ्रमति पात्रसहितः करभोजी वा। ईर्या समिति सहितः मौनवांश्च उत्कृष्टश्रावको दशमैकादश प्रतिमाप्राप्तः।

द्वितीय कहिये दूसरा लिंग भेष उत्कृष्ट श्रावक जो गृहस्थ नहीं ऐसा उत्कृष्ट श्रावक कहागया है सो उत्कृष्ट ग्यारहमी प्रतिमा का धारक है सो भ्रमण कर भिक्षा लेता है। वे पात्र मे भी करे और हाथ में भी करे। भाषा समिति रूप वचन बोले-तथा ईर्या समिति रूप प्रवृत्ति करे।

दोनों क्षुल्लकों में भेद

इस प्रकार की प्रतिमा के धारी क्षुल्लक दो तरह के होते हैं। एक तो वर्ण क्षुल्लक-दूसरा स्पर्श शूद्र। वर्ण क्षुल्लक तो वेहोते हैं जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य। वे तो पीतल का पात्र रक्खें और अवर्ण कहिये स्पर्श शूद्र क्षुल्लक होवें वे लोहे का पात्र रक्खें। कारण कि भोजन समय पर जाति पूछना उचित नहीं है। अतः महान पुरुष आचार्यों ने इस रूप उनके चिह्न कायम करदिये जिससे बिना कहे ही उनकी पहिचान हो जावे। अविनय का कारण नहीं बने। इनमें वर्ण क्षुल्लक होवे उसको तो चोकेमें बिठादेवे और अवर्ण क्षुल्लक होवे उसको योग्यता के साथ ऐसे स्थान पर बिठावे जो चोके से बाहर हो पर अपमान जनक नहीं हो।

दोनों तरह के क्षुल्लक वंदनीय हैं सो इनका आगे खुलासा करते हैं।

पं० आशाधरजी सागारधर्मामृत में कहते हैं—

स्वयं समुपविष्टोऽद्यात्, पाणिपात्रेऽथभाजने।
स श्रावकगृहं गत्वा, पात्रपाणिस्तदङ्गणे ॥४०—७॥

स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं, भणित्वा प्रार्थयेत वा ।
मौनेन दर्शयित्वाऽङ्गं लाभालाभे समोऽचिरात् ॥४१॥
निर्गत्याऽन्यद्‌गृहं गच्छेद्भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित् ।
भोजनायार्थितोऽद्यात्तद् भुक्त्वा यद्भिक्षितं मनाक् ॥४२॥
प्रार्थयेतान्यथा भिक्षां, यावत्स्वोदरपूरणीम् ।
लभेत प्रासु यत्राम्भस्तत्र संशोध्य तां चरेत् ॥४३॥
यस्त्वेकभिक्षानियमो गत्वाऽद्यादनुमन्यसौ ।
भुक्त्यभावे पुनः कुर्यादुपवासमवश्यकम् ॥४६-७॥ [सागारधर्मामृत]

अर्थ---सामान्यतया क्षुल्लक विधि यह है-वह क्षुल्लक निश्चल बैठकर अपने हाथरूपी पात्र में या बर्त्तन में अपने आप भोजन करे ।

वह भोजन किस विधि से करे---उसका उत्तर यह है कि भोजन लेने के लिये एक पात्र अपने हाथ में लेकर श्रावक के घर पर जाकर उसके आंगण में जहांतक हरएक जासकते है वहां पर खड़े होकर 'धर्म लाभ हो' ऐसा वचन दातार को सुनावे । ऐसा बचन बोलनेके वाद मौन भी रक्खे अपना शरीर मात्र दिखाकर भिक्षा की प्रार्थना करे । वहां पर भिक्षा मिले, या न मिले दोनों दशाओं में अपना समभाव रखकर शीघ्र ही अर्थात् बहुत समय वहां खड़ा नहीं रह कर वहां से निकल कर किसी अन्य श्रावक के घर जावे ।

प्रश्न---क्षुल्लक ज्ञानसागरजी ने दान बिचार नामा पुस्तक मे लिखा है कि क्षुल्लक ऐलक दातार के आंगने २७ स्वासोच्छ्‌वासका कार्योत्सर्ग करे । इतनी देर तक वहाँ दातार के घर पर ठहरा रहे । इतनी देर मेंश्रावक उनको भोजन देवे या प्रार्थना करे तो ठीक, अन्यथा वहां से निकल कर दूसरे घर को चला जावे ।

उत्तर---इस प्रकार का कथन मूलसंघ आम्नाय के ग्रन्थों में तो देखने में आया नहीं और उन्होंने जो लिखा है काष्ठासंघ आम्नाय से मिलता है । सो मूल सघ की आम्नायवालों को मानने योग्य नहीं है । भिक्षा लेने के लिये वह उद्यत क्षुल्लक, यदि किसी श्रावक के द्वारा भोजन के लिये प्रार्थना की जावे तो, संतोप पूर्वक वहीं भोजन कर ले ।

क्षुल्लकों की विशेष विधि यह है कि जो अनेक घर भोजी वर्ण हो या शूद्र हों,-परन्तु पात्र विना नहीं रहे । पात्र जरूर राखे । जब शूद्र

क्षुल्लक भोजन के वास्ते जावे और दातार के आंगण में जाकर धर्म लाभ कहे, तब दातार आवाज को सुनकर उनको भोजन देवे। सो अपने पास जो पात्र है उसमें लेलेवे। फिर वहां से निकल कर अन्य घर में जावे वहां। भी 'धर्म लाभ' कह कर जो भोजन मिले सो लेलेवे। अगर वहां भोजन तो देवे नहीं और प्रार्थना करे कि महाराज यहां ही शांति पूर्वक विराज कर आप भोजन कर लेवो, तो शान्ति पूर्वक वहां से प्रासुक जल लेकर जो पहिले भिक्षा में भोजन मिला है उसको जीमकर जितना चाहिए उतना और लेलेवे। यदि ऐसा न हुवा हो तो जब तक अपनी उदर पूर्ति के योग्य भोजन न मिले, तब तक दातारों के घर से धर्म लाभ पूर्वक भोजन लावे, पश्चात् आखिरी घर पर प्रासुक जल लेकर शान्ति पूर्वक बैठ कर, मिले हुए भोजन को सोधकर जीमलेवे। सचित्त वस्तु व अभक्ष्य वस्तुओं को बचावे। कदाचित् अन्तराय का कारण मिल जावे तो जूठन में अन्न छोड़े, नहीं तो इतना ही लेवे जिसे आप जीम ले। रूखा सूखा, खट्टा मीठा, चिकना कैसा ही भोजन हो उसमें किसी प्रकार का राग द्वेष नहीं करे, स्वाद की लालसा रहित जीमे। इस प्रकार उत्कृष्ट शूद्र अनेक घर भिक्षा भोजी का आचरण कहा।

एक घर पर ही भिक्षा भोजन करें ऐसा जो उत्तम वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) है क्षुल्लक, उनका आचरण इस प्रकार है, कि जो क्षुल्लक चौके के बाहर जीमने वाली जातियों में से नहीं है, वह भी जब गोचरी पर भिक्षा के लिये जावे तब अपने चिह्न रूप पात्र जो उत्तम धातु पीतल का है उसको ले जावे और दातार के घर पर आंगण में जाकर 'धर्म लाभ हो' ऐसा कहे। तब दातार सत्कार सहित भोजन के लिये प्रार्थना करे तो वहाँ ठहरे नहीं तो तुरंत अन्य घर पर चलाजावे। भोजन के लिये, इशारा हुंकार आदि किसी तरह की समस्या न करे, शान्ति पूर्वक प्रार्थना करने के पश्चात् पांवों को प्रासुक जल से धुवाकर या धोकर, आसन के ऊपर बैठकर, पात्र में या हाथ पर दिया हुवा भोजन को स्वाद रहित, खट्टा मीठा रूखा सूखा खारा, कषायला कैसा ही हो, परन्तु हो शुद्ध, उसे शान्ति पूर्वक जब तक अन्तराय न होवे तबतक जीमे जूंठन में न छोड़े। किसी प्रकार की भोजन में अप्रासुकता या अभक्ष्यता ग्रहण नहीं करनी। अन्तराय या दोष का कारण उत्पन्न हो जावे तो उसको तुरंत पाले छिपावे नहीं। मुनियों के भोजन के पीछे भोजन करने जावे, पहिले नहीं जावे।

आकांचन् संयमं भिक्षापात्रप्रक्षालनादिषु।
स्वयं यतेत चादर्पः, परथाऽसंयमो महान् ॥ ४४-७ ॥ [सागारधर्मामृत]

अर्थ—वह क्षुल्लक अपने संयम के रक्षा करने की भावना करता हुवा, अपने जीमे हुए भोजन के पात्र को धोने माजने आदि के कार्य में, अपने तप, विद्या आदि का गर्व नहीं करता हुवा, स्वयं ही यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करे, शिष्यादिकों से नहीं करावे। क्योंकि जीवों की अहिंसा जैसी स्वयं करता है वैसी दूसरा नहीं कर सकता। इसलिये जबतक वैसा त्याग नहीं है, तब तक अपना काम आप संभाले, असंयम से डरता रहना चाहिये।

ध. प्र.

तती गत्वा गुरूपान्तं, प्रत्याख्यानं चतुर्विधम् ।
गृह्णीयाद्विधिवत्सर्वं, गुरोश्चालोचयेत्पुरः ॥ ४५ ॥ [सागारधर्मामृत]

अर्थ—आहार लेने के बाद गुरु के पास जाकर विधि पूर्वक चारों प्रकार के आहार का त्याग ग्रहण करे। तथा अपने गुरु के सामने आहार के लिये जाने के समय से लेकर आनेतक की संपूर्ण क्रियाओं और तत्संबधी भूलों की विधिवत आलोचना करे। सदा मुनियों के साथ उनके निवास भूत वन में निवास करे, तथा गुरुओं की सेवा करे। अंतरंग बहिरंग दोनों प्रकार का तप आचरण करे। दस प्रकार के वैयावृत्य का खास करके आचरण करे।

उत्तम श्रावक का स्वरूप

ग्यारहवीं प्रतिमा में प्रथम और द्वितीय ऐसे दो भेद है। उसमें प्रथम के दो भेद १ स्पृश्य शूद्र और वर्ण। इनका वर्णन करके अब ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्तम श्रावक का वर्णन करते हैं।

ऐलक का स्वरूप

तद्वद् द्वितीय किन्त्वार्यसंज्ञो लुञ्चत्यसौ कचान् ।
कौपीनमात्रयुग्धत्ते, यतिवत् प्रतिलेखनम् ॥ ४८ ॥ [सागारधर्मामृत]

अर्थ—क्षुल्लक के समान ही सर्व क्रियाओं का करने वाला दूसरा भेद ऐलक का है। परन्तु इसमें विशेषता यह है कि ये अपने शिर व दाढी मूछों के बालों को लोंच करता है, सिर्फ १ लंगोटी मात्र के पराधीन है मुनियों के समान मोर की पिच्छी आदि संयमोपकरण रखता है और इसकी आर्य संज्ञा है। ऐलक—ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य इन तीनों वर्णों में सेही होंत है। स्पर्श शूद्र कदापि नहीं होता। अष्ट पाहुड में कहा है—

ऐलक भोजन कैसे करें

सुत्तत्थपयविणट्ठो, मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो ।
खेडेविण कायव्वा पाणिप्पत्तं सचेलस्स ॥ ७ ॥ [सू. पा.]

अर्थ—सूत्र का अर्थ और पदजाके विनष्ट है, ऐसा जो प्रगट मिथ्यादृष्टि है, याही तें सचेल है (वस्त्र सहित है) ताकू खेडेवे कहिये हास्य कुतूहल विषैं भी पाणिपात्र कहिये हस्त रूप पात्र करि आहार नहीं करना।

प्रश्न—यहां पर तो ऐसा कहदिया की हास्य से भी पाणिपात्र अहार नहीं करे। और ऊपर श्लोकों में पाणिपात्र वतला दिया सो कैसे है ?

उत्तर—यहां पाणिपात्र का जो निषेध किया है सो मुनि तुल्य अंजुलि बांधकर करनेका किया है, बाकी हाथपर रखकर जीमने का निषेध नहीं है।

आगे इनको खडे रहकर भी भोजन करने की सिद्धान्त में आज्ञा नहीं है—स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में एकादश प्रतिमा का स्वरूप निम्न प्रकार है।

गद्य सं. टी.—पात्रमुद्दिश्य निर्मापितमुद्दिष्टः-स च असौ—आहारः, तस्माद्विरतः। स्वोद्दिष्टापिंडोपधिशयनवरासन वसत्यादेः विरतः यः अन्नपानस्वाद्यखाद्यादिकं भक्षयति भिक्षाचरणेन मनवचनकायकृतकारितानुमोदनारहितः। मह्य अन्नं देहि—इति आहार प्रार्थनार्थे, द्वारोद्घाटनं शब्दज्ञापनं इत्यादि प्रार्थनारहितं प्रकारभयरहितं, चर्मजलघृततैलएवमादिभिः, अस्पृष्टं, रात्रावकृतं, चांडालनीचलोकमार्जारशुनकादिस्पर्शरहितं यतियोग्यं भोज्यं। एकादशके स्थाने ह्युत्कृष्टः श्रावको भवेत् द्विविधः वस्त्रैकधरः प्रथमः कौपीनपरिग्रहोऽन्यस्तु। कौपीनोऽसौ रात्रिप्रतिमायोगं करोति, नियमेन लोचं पिच्छं धृत्वा भुंक्ते उपविश्य पाणिपुटे।

अर्थ—यह श्रावक खास उसी के लिये बनाया हुआ भोजन, शय्या-आसन, वसतिकादि से विरक्त रहता है। अन्न, पान, खाद्य स्वाद्य चारों ही प्रकार का भोजन भिक्षा रूप से करता है। मन, वचन, काय से भोजन बनाता नहीं, बनवाता नहीं, बने हुए की अनुमोदना नहीं करता है। जो श्रावक ने खास अपने लिये बनाया है, उसी में से विभाग रूप जो वह भक्ति से दे, उसे लेता है। मुझे अन्न दो ऐसी आहार के लिये प्रार्थना नहीं करता, न गृहस्थी के बन्द दरवाजे को खोलता है, न भोजन के लिये * शब्द करके पुकारता है। मद्य, मांस, मधुरहित, चर्म में रक्खा जल, घी तैल, आदि से बिना छुआ हुवा, रात्रि को न बनाया हुआ, चांडाल नीच आदमी बिल्ली, कुत्ता, आदि से नहीं स्पर्श किया हुवा, मुनियों के योग्य भोजन को गृहण करता है। यह उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकार का होता है, प्रथम एक वस्त्र और कौपीन मात्र धारी। द्वितीय केवल कौपीन धारी।

*ज्ञानानन्द श्रावकाचार में कहा है कि जब ऐलक भोजन को जावे तब दातार के आंगण में जाकर 'अक्षय दान' इस प्रकार का शब्द कहे, जिससे भोजन देनेवाले सावधान होजावें, और घरसे फिरने रूप व्रती का अपमान नहीं होवे।

सं. प्र.

कौपीन मात्र धारी रात्रि को मौन सहित प्रतिमा योग धारे, कायोत्सर्ग धरे, नियम से अपने केशों का लोंच करे, मोर पिच्छी राखे, अपने हाथ रूप पात्र में ही दातार से रखवा कर बैठकर भोजन करे। प्रथम को क्षुल्लक और दूसरे को ऐलक कहते हैं।

ऐलक बैठकर भोजन करे

स्वपाणिपात्र एवात्ति, संशोध्यान्येन योजितं।
इच्छाकारं समाचारं मिथः सर्वे तु कुर्वते ॥ ४६ ॥ [सागारधर्मामृत]

अर्थ—दूसरा श्रावक अर्थात् ऐलक उपविश्य यानी बैठकर ही अपने हाथ रूपी पात्र में, किसी दातार के द्वारा दिये हुवे भोजन को, भले प्रकार से सोध करके जीमता है। वे एकादश प्रतिमाधारी सबही श्रावक परस्पर में इच्छाकार करते हैं। और भी कहा है—

श्रावको वीरचर्याहः प्रतिमातापनादिषु।
स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ॥ ५० ॥ [सागारधर्मामृत]

अर्थ—श्रावक अवस्था मे वीर चर्य्या अर्थात् स्वयं भ्रामरी वृत्ति से भोजन करना, दिन में प्रतिमा योग धारण करना, इत्यादि मुनियों के करने योग्य कार्यों में तथा सिद्धान्त शास्त्र और प्रायश्चित्त शास्त्रों के अध्ययन का अधिकारी नहीं है।

श्री वामदेव विरचित भाव संग्रह नामा ग्रन्थ के मुद्रित पृष्ठ २०४ में इस प्रकार लेख है ॥

मुनिनामनुमार्गेण, चर्यायै सुप्रगच्छति।
उपविश्य चरेद्भिक्षां, करपात्रेऽङ्गसंवृतः ॥ ५४६ ॥

अर्थ—यह ध्यान रखने की बात है कि खडे होकर भोजन लेने की सम्मति शास्त्रों में मुनियों के लिये ही है, अन्य के लिये नहीं। तब श्रावक अवस्था में खडे होकर आहार लेना मुनिमार्ग का उपहास करना है। इसी लिये ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावकों को चाहिये कि वह भोजन करें तब प्राण जाते हूं खडे भोजन न करे, बैठकर ही करे। दातार के द्वारा हाथ में दिये गये भोजन को शान्ति पूर्वक शोध कर जीमे।

पार्श्व पुराण मे इस प्रकार कहा है—

एक हाथपर ग्रास धर, एक हाथ से लेय ।
श्रावक के घर बैठकर, ऐलक असन करेय ॥

यह कथन भी हाथ के ऊपर धर कर एक हाथ से विना अंजुली लगाये बैठकर शान्ति से भोजन करना कहता है ।

क्षुल्लक चाहे वर्ण क्षुल्लक हो चाहे शूद्र क्षुल्लक हो, उसे पात्र बिना नहीं रहना चाहिये । जितने भी श्रावकाचार हैं सबकी ऐसी ही सम्मति है—जैसे १ वसुनन्दि श्रावकाचार, २ ज्ञानानन्द श्रावकाचार ३ अमितगति श्रावकाचार ४ ज्ञानानन्द निगरसविजय श्रावकाचार ५ धर्म संग्रह श्रावकाचार, ६ सागार धर्मामृत ७ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार ८ गुण भूषण श्रावकाचार ९ श्रावक धर्म प्रकाश १० श्रावक धर्मसंग्रह ११ सार चतुर्विंशतिका १२ अष्टपाहुड की टीका में सूत्र पाहुड तथा अन्य भी कई श्रावकाचारों में क्षुल्लक को पात्र सहित ही बताया है, विना पात्र के नहीं । आजकल जो पात्र नहीं रखते वे क्षुल्लक शास्त्रों की अवहेलना करते हैं, और अवहेलना करना माहापाप है । इससे वचना व्रतियों का काम है । इसके सम्बन्ध में अमित गति श्रावकाचार, तथा धर्म संग्रह में और भी लिखा है कि—

यस्त्वेकभिक्षो भुंजीत, गत्वाऽऽसावनुमुन्यतः ।
तदलाभे विदध्यात्स, उपवासमवश्यकम् ॥ ७०—८ ॥

अर्थ—जो श्रावक एक वक्त ही भिक्षा करने वाला है तो ग्यारहवीं प्रतिमा धारी कभी दो वक्त नहीं जीमे ।

केवलं वा सवस्त्रं वा कौपीनं स्वीकरोत्यसौ ।
एकस्थान्न पानीयो, निंदागर्हा परायणः ॥ १०४ ॥ [अमि. श्रा.]

अर्थ—उत्कृष्ट श्रावक केवल कौपीन वा वस्त्र सहित कौपीन को अंगीकार करता है, एक स्थान में ही अन्न पानी को लेता है, अपनी निंदागर्हा में तत्पर है । क्षुल्लक या ऐलक को केशलोंच करने के वास्ते इस प्रकार आज्ञा है—

ऐलक केशलोंच कैसे और कब करें

मस्तके मुण्डनं लोचः, कर्तनं वा समाचरेत् ।
द्विः त्रिभिर्वा चतुर्मासैर्व्रती सद्व्रतसंयुतः ॥ २५ ॥ [प्रश्नोत्तर श्रा. अ. २४]

अर्थ — अपने व्रतों का पालन करने वाले श्रावक को (क्षुल्लक या ऐलक) दो, तीन, अथवा चार महिने में अपने मस्तक को मुंडवा डालना चाहिये। या कैंची से कतरवा डालना चाहिये, अथवा लौंच कर लेना चाहिये।

श्रावकों के लिये सज्जन चित्तवल्लभ नामक ग्रंथ में श्री स्वामी मल्लिषेण आचार्य कहते हैं:—

ऐलक भोजन में लालसा न करें

यत्काले लघुपात्रमंडितकरो भूत्वा परेषां गृहे—
भिक्षार्थं भ्रमसे तदाहि भवतोमानापमानेन किम् ।
भिक्षो तापसवृत्तितः कदशनात्किं तप्यसेऽहर्निशं
श्रेयार्थं किल सहते मुनिवरैर्बाधा क्षुधाद्युद्भवा ॥ १७ ॥

अर्थ—हे भिक्षुक, जिसकाल में तू हाथ में छोटा पात्र लेकर भिक्षा के लिये औरोंके (श्रावकों के) घर फिरता है, उस कालमें तुझको मान और अपमान से क्या ? तू अपनी तापस वृत्ति में अरुचिकर भोजन से रातदिन क्यों दुःखी होता है। देख जो श्री महा मुनि हैं वे इन क्षुधा पिपासादि जनित बाधाओं को अपने कल्याण के लिये बडे हर्ष पूर्वक सहन करलेते हैं। अतः तूभी धैर्य धारण कर।

क्रितन्न भवता भवेत्कदशनं रोषस्तदा श्लाघ्यते—
भिक्षायां यदवाप्यते यतिजनैस्तद्भुज्यतेऽत्यादरात् ।
भिक्षो भाटकसद्मसन्निभतनोः पुष्टिं वृथा मा कृथाः—
पूर्णे किं दिवसावधौ क्षणमपिस्थातुं यमोदास्यति ॥ १८ ॥

अर्थ — हे भिक्षुक जिस भोजन को तू कु भोजन समझ रहा है उस भोजन का तैने मूल्य तो दिया ही नहीं है। यदि तू उस भोजन को मुल्य देकर खरीदता तो तेरा क्रोध करना भी ठीक था। ध्यान में रख कि भिक्षामें तो रूखा सूखा जैसा मिलजाता है, साधुजन उसको ही बडे प्रेम से जीम लेते हैं। क्योंकि उनको तो अपने षट् आवश्यक रूपी कार्यों को यथोक्त रीति से करना है। खयाल कर तू इस किराये के घर समान शरीर को वृथा पुष्टमत कर। क्योंकि जब किराये की अवधि पूरी हो जायगी (आयु के दिन की अवधि पूरी हो जायगी) तब क्या इसमें काल रूपी यमराज तुझे एकक्षण भी ठहरने देगा ? कदापि नहीं। फिर इस शरीर से प्रेम क्यों ?

सौख्यं वाञ्छसि किन्त्वया गतभवे दानं तपो वा कृतं—
नोचेत्त्वं किमिहैवमेव लभसे लब्धं तदत्रागतम् ।
धान्यं किं लभते विनापि वपनं लोके कुटुम्बीजनो—
देहे कीटकभक्षितेक्षुसदृशो मोहं वृथा मा कृथाः ॥ १५ ॥ [सज्जन चित्त वल्लभ]

अर्थ—हे श्रावक विचार, जो तू सुखकी वाञ्छा करता है सो क्या तूने पूर्व भवमें दान दिया था व कोई तप किया था । यदि यह नहीं किया तो तुझे सुख कैसे मिल सकता है । जैसा पूर्व में किया था वैसा ही यहां प्राप्त हुआ है । संसार में किसान लोग क्या विना बोये भी कहीं धान्य पाते हैं ? नहीं । तुझको तो फिर कैसे विना बोये सुख मिलेगा । ध्यान में रखना चाहिए कि कीड़ों के खाये हुए ईख के समान अर्थात् काने गन्ने के समान इस संसार में वृथा मोह मतकर, ममत्व छोड़ने से ही कर्मबन्ध दूर होंगे और नये बन्ध रुकेंगे ।

व्रती किनके यहाँ भोजन को न जावे

गायकस्य तलारस्य, नीचकर्मोपजीविनः ।
मालिकस्य विलिंगस्य, वेश्यायास्तैलिकस्य च ॥ ३८ ॥
दीनस्य सूतिकायाश्च च्छिपकस्य विशेषतः ।
मद्यविक्रयिणो मद्यपानसंसर्गिणश्च न ॥ ३९ ॥
क्रियते भोजनं गेहे, यतिना भोक्तुमिच्छुना ।
एवमादिकमप्यन्यत् चिंतनीयं स्वचेतसा ॥ ४० ॥

अर्थ—जो गाकर जीविका करने वाला हो जैसे गन्धर्व लोग, या तेल अर्क आदि वेचने वाले, या नीच कर्म से आजिविका करने वाला हो, माली अर्थात् पुष्प आदि वेचकर आजीविका करता हो, उत्तम कुल का होतो भी नपुंसक हो, वेश्या हो, दीन हो, कृपण हो, सूतक वाला, स्त्री या पुरुष हो, छीपा का काम करने वाला, मद्य पीने या वेचने वाला हो मद्य वेचने वालों का संसर्गी हो । इतने प्रकार के स्थान या इनमें से कोई व्यक्ति हों, उनके संबंध से, यति लोग या यति समान आचरण करने वाले संयमी लोग भोजन को न जावें ।

भोजन के समय न करने योग्य कार्य

लोजन के समय व्रतीलोग नीचे लिखे कार्य न करें—

"हुंकारांगुलिखात्कारभ्रूमूर्द्धचलनादिभिः ।
मौनं विदधता संज्ञा, विधातव्या न गृद्धये ॥
भ्रूनेत्रहुंकारकरांगुलीभिर्गृद्धिप्रवृत्यै परिवर्ज्य संज्ञाम् ।
करोति भुक्तिं, विजिताक्षवृत्तिः, सशुद्धमौनव्रतवृद्धिकारी ॥"

अर्थ—ये श्लोक इस प्रकार की शिक्षा देते हैं कि ख्याति, लाभ पूजा के वास्ते हुंकारा, समस्या तथा अंगुली फेरना, भृकुटि चढाना या और तरह से भी इशारा करना, मौन तोडना होता है । या यों समझिये कि कोई दातार भोजन परोसते समय कोई वस्तु परोसना भूल जावे तो उसको इशारा से समझा देवे कि तुम अमुक वस्तु परोसना भूलगये सो परोसलो । इस प्रकार की समस्या में भोजन की लंपटता, और गृद्धता दिखती है । हां मार्ग से कोई कार्य विपरीत होता होवे उसको समझा देवे तो उसमें तो न गृद्धता नजर आवे, न लम्पटता ही दिखती है । यथा—दातार रसयुक्त और रस विहीन दोनों तरह के भोजन परोस गया है, सो नीरस भोजन देवे तब तो हाथों को खींचले और रसयुक्त भोजन देवे तब हाथ बढाले, ऐसा करना गृद्धता कहलाती है । रस सहित भोजन देवे तब तो हाथ को खींच लेवे, और नीरस लेता रहे, ये मार्ग तो शास्त्रोक्त है, इसके विपरीत कार्य छोडना चाहिये । इसी लिये भोजन के समय व्रतियों को मौन बताया है इसका कारण यही है कि गृहस्थ किसी प्रकार व्रती को नीची दृष्टि से न देखे । व्रतियों की वीरता, भोजन की निस्पृहता, तथा इन्द्रिय विजयता, स्वादकी लोलुपता रहितपना, ये बातें मौन से ही बनती हैं । इसमें व्रती जनता की निगाह में पूज्य बने रहें, तथा लालसा रूप कर्म बंध भी न होवे । इससे साधु साधु ही बना रहता है, स्वादु नहीं होता । यह भी इससे महान गुण है । व्रती को अकेला विहारी नहीं होना सो ही कहते हैं ।

कौनसा साधु एकल विहारी होसकता है ?

तवसुत्त सत्तएगत्त भाव संघडण धिदि समग्गो य ।
पविआ आगम बलिओ, एय विहारी अणुण्णादो ॥ ४६ ॥ [मूलाचार गाथा १४९ समार]

अर्थ—तप, आगम शरीर, बल, अपने आत्मा में ही प्रेम, शुभ परिणाम उत्तम संहनन, और मनका बल क्षुधा आदि का न होना, इन गुणों से युक्त हो तथा तप आचार और सिद्धान्त में बलवान हो अर्थात् चतुर हो, साधुओं में भी अग्रसर हो, परीषह आनेपर हार न खावे, आर्त रौद्र परिणामों से बचा रहे. वैसा साधु एकल विहारी हो सकता है ॥ १४६ ॥

सच्छंद गदागद सयण, णिसिय णादाण भिक्खवो सरणो ।
सच्छंद जं परोचि य, मा मे सत्तू वि एगागी ॥ १५० ॥

अर्थ—सोना, बैठना, ग्रहण करना, भोजन लेना, मल त्याग करना, इत्यादि कार्यों के समय जिसका स्वच्छंद गमनागमन है, तथा स्वेच्छा से ही बिना अवसर बोलने में प्रेम रखता हो, ऐसा पुरुष (अकेला) मेरा वैरी भी न हो, सो भी नहीं होसकता । यहांपर व्रती पुरुषों को ही अकेला रहने की मनाई है. क्योंकि व्रतों मे स्वच्छंदता आही जाती है । दो पुरुष होवें तो परस्पर सापेक्षा से स्वच्छंदता नहीं आवे । इससे व्रत रक्षित नहीं होते, तो बताओ स्त्रियां अकेली कैसे रह सकती हैं, अकेला रहना महापाप ।

क्षुल्लिका के लिए विधान

यहां पर ख्याल रखने की बात है कि जैसे क्षुल्लक दो वस्त्र रखते हैं, वैसे ही क्षुल्लिका भी दो साडी रख सकती है, क्षुल्लिका वर्णी जाति की हो या स्पृश्य शूद्र हो, वह भी क्षुल्लक के समान ही लोहे का और पीतल का पात्र रक्खे । भोजन के वास्ते दातार के घर में जावे, तब धर्म लाभ कहकर भिक्षा की याचना करे । शूद्र तो मांगकर जीम सकता है, परन्तु वर्णक्षुल्लिका एक ही घर में जो भी चौके में बैठकर ही जीमे, मांगकर पतेल में नहीं लावे ऐसी क्रिया स्पृश्य शूद्र के वास्ते है ।

गृहस्थ अवस्था में जो व्रत आंखडी ली थी उसको जबतक श्रावक अवस्था है, तबतक उस ही रूप से पाले छोड़े नहीं, कारण यह पर्याय श्रावक अवस्था की है, मुनि अवस्था की नहीं ।

जब पानी बरसने लग जावे, तब भोजन का समय होवे तो भी बरसते पानी में भोजन को न जावे । क्योंकि भोजन में गीला कपड़ा लेना नहीं । कारण शरीर के संबंध से और हवा के संबंध से, गर्मी सर्दी के योग से सम्मूर्च्छन जीव उस कपडे में पैदा होजाते हैं वे मरते हैं, भाग में अठारह बार मरने वाले संमूर्च्छन पैदा होते हैं, यातें गीला कपडा लेना नहीं । भोजन को चला जावे और कपडा भीग जावे तो बदलने के वास्ते दूसरा कपडा नहीं, इससे मार्ग विपरीतता और भोजन की गृद्धता दोनों नजर आती है, धर्म में दूषण लगता है । इसलिये थोडी देर ठहर कर भोजन को आवे ताकि पानी बरसता बन्द हो जावे ।

प्रश्न—पानी वर्षते समय में मुनि भोजन को जावे या नहीं ? उत्तर—जब ज्यादा पानी वर्षे तब मुनि लोग भी भोजन को न जावें। रास्ते में पानी भर जावे तब जीव जन्तु सूझे नहीं और ईर्या समिति पले नहीं. अतः ऐसे समय पर भोजन को नहीं जावे। हां थोड़ा झरमरझरमर किंचित् वर्षता होवे तब तो मुनि जा सकते हैं, कारण उनके पास कपड़ा नहीं। जो रास्ते में पानी जोर से आजावे तो मुनि वहीं खडे रह जावेंगे, फिर आगे पीछे हटेंगे नहीं। कदाचित् दातार के घरगये और नवधा भक्ति में भूल होगई तथा पानी वर्ष रहा है तो भी वहां ठहरेंगे नहीं, बाहर आकर चौगान मे खड़े हो जावेंगे, आगे नहीं जावेंगे। पर भूल में दातार के घर खडे नहीं रहेंगे। बिचार पूर्वक प्रवृत्ति करना ही शोभा पाता हैं अन्यथा नहीं। इसलिये कंठगत प्राण होते भी व्रतों में दूषण मत लगावो।

श्रावक अवस्था मे जब तक हो तबतक दिन में किसी प्रकार भी नग्नता न करो, नग्न होना हंसी खेल नहीं है महान् उत्कृष्ट धर्म है, नग्न होकर फिर कपड़े पहिनना नहीं। जो नग्न होकर कपड़े पहनते हैं उन्होंने इस धर्म को हंसी खेल समझ रखा है ऐसा वह धर्म नहीं है, यह तो धर्म महाशूरवीरों का है कायरों का नहीं।

भोजन को जावे उस समय न तो शीघ्रता से गमन करे और न विलम्ब से गमन करे। जैसी स्वाभाविक सामान्यतया प्रवृत्ति है उसी रूप से चले। सौम्य रूप आकृति सहित, नीची दृष्टि रखकर, चार हाथ जमीन को निरख परख कर चले, जिससे प्रमाद जनित दोष न होवे, और न धर्म को अन्य कोई दूसरे लोग दूषण देवें। भोजन को जावे तब मौन सहित आवे, अगर रास्ता में चलते समय पर कोई पुरुष प्रश्न करे, तब उत्तर देने योग्य होवे तो खडा रहकर शान्ति.पूर्वक उत्तर देवे, चलते चलते उत्तर नहीं देवे, जो कदाचित् उत्तर देने की आवश्यकता नहीं होवे तो मौन पूर्वक चला जावे. कुछ उत्तर नहीं देवे। जरूरत समझकर बोलने वास्ते मनाई नहीं है, क्योंकि मौन तो भोजन के वास्ते है, जिससे गृद्धता न बढे उत्तर देने के वास्ते मौन नहीं है। जो भी उत्तर दिया जावे सो सब हित मित और प्रिय वचनों से हो जो किसी को बुरा न लगे।

उद्दिष्ट त्यागी पुरुष हों, या स्त्री उनको चाहिये कि वह भोजन और पान एक ही समय लेवे न कि दूसरे समय मे भी; चाहे साधारण अवस्था हो या बीमार अवस्था। भोजन एक ही आसन पर करे। यह नहीं कि भोजन दूसरे स्थान पर कर लिया और पानी वगैरह का कुरला दूसरे स्थान पर करे। यह इस प्रतिमा के धारक के लिये नहीं है कि वह दांतुन कुरला करे। भोजन के समय पर मुख शुद्धि कर लेवे, जिससे दांतों में अन्न नहीं लगा रहे, भोजन मे अन्तराय हो जावे तो पानी भी नहीं पी सकते। भोजन हुए पश्चात् तुरंत गुरु-आश्रम में पहुंच जावे। यह खयाल रहे कि कोई कारण पायकर ग्राम में रहे, पर वास जंगल काही सिद्धान्तों में ठीक माना है। सो ही बताते हैं—

व्रती का निवास वन में है—

मुनि आर्यिका ऐलक क्षुल्लक, इन का वास अरण्य के मांहि।

भोजन समय पर आवे ग्राम में इस विधि सिद्धान्तों में गांहि ॥
आत्म ध्यान के ये हैं रसिया, ग्राम मांहि होने का नांहि ।
तातें रहो भूलि मत ग्राम में, नातर आत्म ध्यान नशांहि ॥ १ ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि मुनि होवे या आर्यिका या ऐलक क्षुल्लक क्षुल्लिका कोई भी हो, वे सबही आत्म ध्यान के स्वादी हुवा करते हैं। सो वह आत्म ध्यान गांव में नहीं होता क्योंकि वहां पर गृहस्थ लोगों का रहन सहन, आना जाना; गीतनृत्य का होना, वादित्रों का बजना, उत्सव होना, रोना, पीटना, क्लेश करना, लड़ना झगड़ना, हुवा ही करते हैं, इससे ध्यान में चित्त स्थिर नहीं हो सकता, आदि। ध्यान स्वादी हो तो भूल कर भी ग्राम में मत रहो, कदाचित् जरूरी होतो थोड़े समय तक ग्राम में ठहरने का दोष नहीं है। सूना घर मठ मंडप वसतिकादि वगैरह एकान्त स्थान में रहे वस्ती मे नही रहै। सांथरा जो चार प्रकार का माना है, जैसे-शुद्ध भूमि (प्रासुक भूमि) काष्ठ का पाटिया, पाषाण की शिला, तृण, घास का सांथरा या चटाई पर शयन करो, सो भी पहिली पिछली पहर छोड़कर रात्रि के समय पर शयन करना चाहिये। बाकी की रात्रि को धर्म ध्यान पूर्वक वितावे, चारों प्रकार की विकथाओं का संयोग नहीं मिलावे, धर्म ध्यान सहित रहे।

ऐलकादि के लिए विशेष विधान

ऐलक क्षुल्लक क्षुल्लिका ये श्रावक अवस्था के पद हैं। श्रावक जब इनको वन्दना या इच्छाकार कहे तो बदले में ये उनको धर्म लाभ कहें।

इन लोगों के पास वस्त्र हुवा करते हैं, सो श्रावकों से कहकर नहीं धुलवावे, क्योंकि श्रावकों के यहां विशेष प्रमाद हुवा करता है, श्रावकों से प्रासुक द्रव्य लेकर जल लेकर खुद धो लेवे तो असंयम से बचे।

इन लोगों के ग्यारह प्रतिमा रूप व्रत हैं सो ये अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व के दिन उपवास ही करें क्योंकि उपवास चौथी प्रतिमा की क्रिया है सो नहीं छोड़नी चाहिये, छोड़े तो प्रतिमा रूप व्रत नहीं रहेगा। हमने लगभग ३२ श्रावकाचार के ग्रन्थ देखे परन्तु किसी में भी इनको पड़गाहना के लिये नहीं लिखा, ऐलक तो श्रावक के घर भोजन के लिये जावे तब अक्षयदान रूप शब्द कहे और क्षुल्लक क्षुल्लिका धर्मलाभ कहे। तब दातार आदर सहित इनको कहे "महाराज शुद्ध भोजन तैयार है सो पधारो" वहां क्षुल्लक क्षुल्लिका, या ऐलक को तो चौका में बैठाकर आदर पूर्वक जिमा देवे, और स्पृश्य शूद्रको तो थोड़ा सा भोजन देदेवे या, कहदेवे कि यहीं ही जीम लेवो, सो पहिले का लायाहुवा होवे तो

पहिले उस भोजन को जीमले, यदि वह पहिला ही घर होवे तो, यहीं अपने लोहे के पात्र में भोजन लेकर शोधकर शांति पूर्वक जीम लेवे, परन्तु पडगाहने के लोभ में नहीं पडे। हा रत्नकरंड श्रावकाचार की टीका में पं० सदासुखजी ने आज कल की प्रवृति की देखा-देखी जरूर लिख दिया है. बाकी किसी ग्रन्थ में मुनि के सिवा पडगाहना और के लिये नहीं लिखा देखा। ढोंग करना ठीक नहीं। श्रावक आदर भक्ति पूर्वक आहार देवे फिर क्यों नहीं लेना ?। यह नहीं समझना कि इन्होंने पडगाहन हीं उठादिया है, दातार की पूरी पूरी भक्ति है, पर पडगाहना संयमी ही के वास्ते कहा है अन्य के वास्ते यथायोग्य सत्कार ही बताया है।

प्रश्न—आपने कहा सो सब समझा, परन्तु क्षुल्लक ज्ञानसागरजी कृत दान विचार में तो क्षुल्लक के वास्ते अर्घ चढ़ाना लिखा है फिर आप कैसे निषेध करते हो ?

उत्तर—पद्मपुराण में लिखा है कि जब रावण जीतकर आया तब नगर में प्रवेश किया तब शहर के लोगों ने रावण के चरणों में अर्घ चढाया।

तथा जब नारदजी कृष्णजी की सभा में गये तब कृष्णजी ने नारदजी को अर्घ चढाया, ऐसा प्रद्युम्नकुमार में चरित्र में लिखा है (देखे अध्या ३ श्लो० ११-१२ में)

इस तरह का कथन चन्द्रप्रभु चरित्र में भी जरुर है कि क्षुल्लक के चरणों में अर्घ चढाया होगा। परन्तु यह सिद्धान्त सर्वथा भोजन जाते समय के वास्ते श्रावकाचारों में कहीं भी नहीं है। कारण पाकर उन्होंने लिखा है सो काष्ठासंघ के मतानुकूल होता होगा मूलसंघाम्नाय नहीं है। देखो गुण भूषण नामाश्रावकाचार टीका में उन्होंने लिखा है कि क्षुल्लक की नवधा भक्ति नहीं होती।

प्रश्न—इस के पीछे ज्ञानसागरजी क्षुल्लक से मुनि होगय तब उन्होंने एक स्वधर्मनामा श्रावकाचार बनाया है उसमें लिखा है कि श्रावक ५ घरों से भोजन भिक्षा वृत्ति से लावे और मुनिका समागम मिलजावे तो वह उस भोजन में से मुनि को भोजन देदेवे और उनको दिये पश्चात् भोजन बचेतो क्षुल्लक जीम लेवे, अगर नहीं बचे तो क्षुल्लक उपवास करे। इस प्रकार का कथन है और वहां पर क्षुल्लक के पांच प्रकार माने हैं सो कैसे है ?

उत्तर—ऐसा कथन लाटी संहिता नामा ग्रन्थ में जरुर है। परन्तु वह ग्रन्थ काष्ठासंघियों का है सो मूलसंघियों को किसी प्रकार भी मान्य नहीं है। ऐसा उनके बडे भाई धर्मरत्न पंडित लालारामजी हैं उन्होंने लाटी संहिता ग्रन्थ की टीका करी है उसमें नोट देदिया है कि यह कथन मूल संघियों को मान्य नहीं है। ऐसा काष्ठासंघी मानते हैं. सो नाजायज है।

आगे जो ५ प्रकार के क्षुल्लक माने हैं सो पहले क्षुल्लक ज्ञानसागरजी यज्ञोपवीत संस्कार नामक पुस्तक बना चुके हैं, उसमें ५ प्रकार के ब्रह्मचारी मान चुके हैं और फिर मुनि होकर स्वधर्मश्रावकाचार बनाया है उसमें ५ प्रकार के क्षुल्लक बताए हैं सो यह कथन भी काष्ठा संघियों का है सो लाटी संहिता में माने हैं। सो यह कथन काष्ठा संघियों को जरूर मान्य है न कि मूल संघियों को। पुरातन ग्रन्थ जैसे चामुंडराय चारित्रसार उसमें ५ भेद ब्रह्मचारियों के माने हैं न कि क्षुल्लकों के। अतः यह सिद्ध होता है कि मुनि स्वधर्म सागरजी काष्ठासंघ के पोषक थे न कि मूल संघ के। इस वास्ते ऐसा कथन लिखते थे।

जब तक लंगोटी है तबतक श्रावक ही है, इसलिये मुनि की तरह वह नमोऽस्तु नहीं कहलाता, जमीन पर घुटना टेककर नमस्कार नहीं कराता, क्योंकि इसमें मान का आशय दिखता है. और जहां मान का आशय है वहां पर कर्म बन्ध है, सो कर्म बांधने के वास्ते प्रतिमा यानी व्रतीपना नहीं लिया है, व्रतीपना तो कर्म काटने के वास्ते लिया है। नमस्कार कैसा कराना सो ही कहते हैं—

खडे खडे युग हस्त मिलाकर भायजी। शिर को नमन कराय चित्त हुलसायजी।
इच्छाकार हुबोध विनय करवायजी, नमस्कार उत्तम श्रावक लिये थायजी।

इस प्रकार खडे खडे हाथों को जोडकर, सिर को नमाकर, उत्तम श्रावक जो ऐलक क्षुल्लक क्षुल्लिकाओं के लिये नमस्कार (इच्छाकार यानि इच्छामि कहना ही इनका सत्कार है, मुनियों की तरह जमीन पर बैठकर, श्रावक अवस्था में नमस्कार कराना अयोग्य है, कोई भूलकर वैसा नमस्कार करे, तो खुद व्रतियों को चाहिये कि वह उस गृहस्थ श्रावक को समझा देवे, जिससे कि मान के आशय से कर्म बन्ध नहीं होवे, यही व्रतियों का कर्तव्य है.

किस प्रतिमा में कौन २ से व्रत निर्दोष होते हैं ?

पाक्षिक अवस्था से लगाकर उद्दिष्ट त्याग ग्यारहवीं प्रतिमा तक कौन २ से व्रत किस किस स्थान पर निर्दोष होते हैं—उनका खुलासा इस प्रकार है—अष्ट मूलगुण, पंचाणुव्रत, सप्तशील, पाक्षिकों में से इस प्रकार व्रत लेते हैं—श्रावक के तीनभेद—जघन्य, मध्यम, उत्तम
१ जघन्य पाक्षिक के-अष्ट मूल-गुण धारण, सामान्य से मिथ्यात्व त्याग २ मध्यम पाक्षिक, सप्त व्यसन का त्याग, मिथ्यात्व के अतिचार न लगाना ३ उत्तम पाक्षिक-अभक्ष्यों का त्याग, सप्त व्यसनों के अतिचारों को बचाते हैं।

१ पंचाणुव्रत धारण रूप प्रथम प्रतिमा में सातिचार पंचाणुव्रत होते हैं, मिथ्यात्व, अन्याय रूप कार्यों का सर्वथा त्याग, इनके अतिचारों को भी पालता है अणुव्रतों के जो अतिचार लगते हैं, सो बचा नहीं सकता।

बारह व्रतों में पांच अणुव्रत तो प्रथम प्रतिमा में गृहण कर लिये, रहे सप्तशील सो यहां ग्रहण कर व्रत प्रतिमा वाला बनता है।

यहां पर यह नहीं देखा जाता कि कौन व्रत तो पहिले कहा है और कौन पीछे कहा है। पर इन व्रतों के अतिचार उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा तक छूटते हैं नकि दूसरी प्रतिमा मे ही। सो ही कहते हैं गुण व्रत तो अणुव्रतों को महाव्रत रूप होने के जितने भी गुण हैं सो बढ़ाते हैं। और शिक्षाव्रत अणुव्रतों को महाव्रत रूप होने की शिक्षा देते हैं।

१ सामायिक व्रत के अतिचार, तीसरी सामायिक प्रतिमा में छूटेंगे।

२ प्रोषधोपवास के अतिचार जब चौथी प्रतिमा होगी तब टलेंगे पहिले नहीं। यह सामायिक वास्ते शक्ति बढ़ाता है। भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत के अतिचार कहां टलेंगे सो ही कहते हैं। १ जो बार बार भोगने में आवें उन पदार्थों को उपभोग कहते हैं, उनके अतिचार मोटे रूप से पांचवी प्रतिमा में टलेंगे, परन्तु सूक्ष्म रूप से दसवीं प्रतिमा तक पहुंचते हैं। जो एक ही बार भोग में आवे उसे भोग कहते हैं उसका अतिचार छठी रात्रि भुक्ति, तथा सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा में तो मोटे रूप से बाकी सूक्ष्म दोष ग्यारहवीं प्रतिमा और मुनि व्रत के चरम समय मे टलेंगे। दिग्व्रत के अतिचार मोटे रूप से, सवारी कृषि आदि कर्म के त्याग रूप अष्टम प्रतिमा में मोटे रूप से छूटते हैं, परन्तु जब तक अनुमति देता है, तब तक सूक्ष्म अतिचार छूटते ही नहीं।

देशव्रत के अतिचार जब परिग्रह त्याग प्रतिमा धारण करेगा, तब मोटे रूप से छूटेंगे, परन्तु सूक्ष्म अतिचार तो मुनिव्रत लिये बिना टल नहीं सकते।

अनर्थदण्ड व्रत के अतिचारों का जब अनुमति त्याग प्रतिमा ग्रहण करेगा, मठ मंडप में बसेगा, कुटुम्बी जनों को किसी प्रकार की सलाह आदि नहीं देगा, तब मोटे रूप से त्याग होगा, परन्तु बारीक रूप से मुनिव्रतों को धारण कर विकथा रूप भावों का त्याग होगा, तब ही यह व्रत निरतिचार रूप होगा।

अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार तब टलेंगे जब कि ग्यारहवीं प्रतिमा धारण हो जावेगी।

इसका खुलासा ऐसा है कि यह व्रत श्रावक और मुनि दोनों अवस्था में पाला जाता है, पर यहां श्रावक अवस्था का ही कथन है। जब उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा ग्रहण करली जाती है, तब उनके पास स्वद्रव्य तो है नहीं जिसे अतिथि (मुनि) को देवे, परन्तु अतिथि संविभाग जरूर करते हैं, नहीं तो प्रतिमा पूर्ण न होवे। इसलिये वे ऐसा करते हैं कि, मुनियों के भोजन का जो समय नियत है, उस समय की इंतजारी करके पश्चात् वे भोजन को जाते हैं। क्योंकि इनके यही अतिथि संविभाग है और यह भावना भाते हैं कि मुनिराजों का इस समय पर अतिथि संवि-

भाग व्रत लिया जाता है सो भी ज्ञानी पुरुषों के लिये है न कि अज्ञानियों के लिये। बाकी सूक्ष्म रीत्या अर्थात् पूर्ण रूप से यह व्रत मुनियों के पलता है, क्योंकि उन्होंने संसार भर के सर्व त्रस स्थावर जीवों के लिये सर्व प्रकार से अभय दान दे दिया. सो ही उनके पूर्णतया अतिथि संविभाग व्रत है। क्योंकि मुनि लोग कभी भी ऐसा उपदेश भी नहीं देते जिससे स्थावर जीव या त्रस जीव पीड़ित किये जावें, यातें पूर्णरीति से यह व्रत उन्ही महात्माओं के है, और अनर्थदण्ड के त्यागी भी महाव्रती लोग ही हुवा करते हैं, और नहीं।

सल्लेखना

जिस समय अनिवार्य उपसर्ग आजावे दुर्भिक्ष हो, या कोई महान् क्लिष्ट रोग हो जावे, या कोई प्रकार का उपसर्ग परिषह या शरीर के निपात करने वाला कारण मिले जैसे जंगल में आग लग जावे और निकलने का उपाय न हो, सिंह व्याघ्रादि का सामने उपस्थित हो जाना, जहरीले सर्प गोहरा आदि जीवों के द्वारा काटा जाना, जिसमें यह निश्चय हो जावे कि अब बचना कठिन है. ऐसे समय पर शान्ति धारण कर, धर्म की प्रभावना के भी निमित्त इस निर्जीर्ण शरीर को शान्ति पूर्वक त्याग देना इसी को समाधि या सल्लेखना कहते हैं। इस सल्लेखना के दो भेद हैं प्रथम तो प्रयोग सल्लेखना, दूसरी शीघ्र सल्लेखना। इन दोनों का ही यहां खुलासा करेंगे, सामान्य से सल्लेखना का वर्णन ऊपर कर भी चुके हैं।

काय और कषाय का कृश करना ही वास्तविक सल्लेखना है। जितने भी व्रत लिये जाते हैं श्रावक अवस्था में उनका निरतिचार पालन कर, उन व्रतों सहित शान्ति पूर्वक काय और कषाय को कृश करते हुए रागद्वेष नहीं होवे, कदाचित् वेदना बढ़ जावे उसमें भी शान्ति बनाये रहे धीरता के साथ समाधिमरण हो जावे इत्यादि सब उपरोक्त व्रतादिक या प्रतिमाओं के पालन रूप कारण मिलाये बिना, समाधिमरण नहीं होता।

यह समाधि मरण जीवका ऐसा उपकारी है कि अधिक से अधिक सात आठ भव में सब कर्मों को खिपा करके मोक्ष करा ही देता है। यह समाधिमरण इस जीव को सुख का दाता महान उपकारी है. अथवा यों कहिये, संसार रूप विपत्ति में यह जीव का मित्र ही नहीं परम मित्र है।

जैसे कोई पथिक सागर के परले पार जाना चाहता है, परन्तु वह इन तीन वस्तुओं के बिना परले पार पहुंच नहीं सकता जैसे पहिले तो उसे श्रद्धा होवे कि मेरा उतरना अमुक घाट पर होना ठीक है दूसरे उसको यह ज्ञान होवे कि इस जलाशय में यहां होकर जाने से ठीक ठीक जगह पर पहुँच जाऊँगा, इसी रास्ते से और भी जो गये हैं, वे बिना खेद के पहुँच गये हैं, तीसरे उसके पास नैया (जहाज नाव) आदि

हो जिसमें बैठकर चल सके और वहा पहुँच जावे। इन तीनो वस्तुओं के विना हमारा सागर पार हो नहीं सकता, इसी तरह उस मोक्ष पुरी को जाने वाले पथिक के पास भी मोक्ष पुरी में पहुचने के लिये ये तीन पदार्थ चाहिये, पहलेतो उसको यह श्रद्धान होना कि निरतिचार व्रत पालूगा तब ही मेरा कल्याण होगा अन्यथा नहीं, दूसरे वह उन व्रतों को शास्त्रोक्त रीति से पालन करे दूषण नहीं लगावे सो हुवा ज्ञान, तीसरे उसके पास नैया रूप समाधिमरण सो शान्ति से कषाय और काय को कृश करे शास्त्रोक्त मरण करे सो हुवा चलना, तब ही वह पुरुष सात आठ भव मे मोक्ष पावे और हमेशा के लिये इस संसार रूप विषयों के प्रकोप से बचे और सदा के लिये सुखी हो जावे।

यहां पर जो व्रत धारण किये हैं, इन व्रतों का पूर्ण साधन किया है, जिसका फल यह समाधि मरण का लाभ है, सो यह इस शरीर से होता है, शरीर विना नहीं, इसलिये इस शरीर को ऊपर लिखे अनुसार कारण नहीं मिले और पूरी तरह धर्म ध्यान में सावचेत रहे तवतक इसके वास्ते ठीक ठीक सूत्र के अनुकूल आहार विहार और औषधि का निमित्त कारण मिलावे परन्तु उसमें भी पूरा २ खयाल रक्खे जैसे सेठ मुनीम को नौकरी देता है और काम लेता है वैसे ही शरीर को देना, इसका दास नहीं हो जाना। कदाचित् किसी कारण से कोई कर्म के निमित्त से असाता वेदनीय जनित रोग पोडा हो जावे तो योग्य प्रतिकार स्वरूप, दवा कर लेवे।

ध्यान रहे कि रोग का तो तब ही उपशम होगा जब कि असाता वेदनीय जनित कर्म का उपशम होवेगा, विना असाता वेदनीय के छूटे रोग परिषह उपसर्ग हरगिज भी नहीं टलेंगे, इसलिये खयाल रहे कि जो धर्म घात के प्रयोग जैसे-अभक्ष्य दवाइयां, तथा असेव्य आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

भगवन् शिव कोटि आचार्य ने मरण के सतरह भेद बताये हैं पर उनका कथन पहिले मुनि धर्म में कर ही आये हैं, उन सतरह प्रकार के मरणों में पांच प्रकार के मरण मुख्य माने हैं, उनके नाम ये हैं।

"पंड़िद पंड़िद मरणं, पंडिदयं वालपंड़िदं चेव।
वालमरणं चउत्थं, पंचमयं वालवालं च ॥ २६ ॥"

अर्थ—प्रथम मरण पंडित पडित, दूसरा पडित मरण, तीसरा बाल पंडित, चौथा बालमरण, पांचवा बालबाल मरण। इनका खुलासा इस प्रकार है।

१ पंडित पंडित मरण—यह मरण अर्थात् पर्याय बदलने रूप चौदहवे गुण स्थानवर्ती श्री जिनेन्द्र अयोग केवली

भगवान् के होता है अर्थात् इस मरण के होने से जीव को सदा के लिये मरण करना फिर नहीं होता, इसका विशेष खुलासा मुनिधर्म में होगया है।

२ पंडित मरण—जो अठाईस मूल गुण धारी मुनियों के होता है, इसका भी कथन मुनि धर्म में करदिया।

३ बाल पंडित मरण—यह मरण देश व्रती श्रावकों के होता है, इसका यहां कथन करेंगे।

४ बाल मरण—यह मरण अविरत सम्यग्दृष्टि के हुवा करता है, यह मरण शान्ति से हो जावे तो कल्पवासी देव होवे नहीं तो भवनत्रिक में उपजे।

५ बाल बाल मरण—यह मरण मिथ्यादृष्टि जीवों के हुवा करता है, यह मरण चतुर्गति के भ्रमण का कारण है, इस मरण से शांति कभी भी नहीं मिल सकती।

जो बारह व्रतों के धारक हैं, ऐसे देशव्रती पाक्षिक से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक के पालक श्रावक इनके मरण को सिद्धान्त में बाल पंडित मरण कहते हैं। उस बाल पंडित मरण का पात्र व्रती श्रावक ही होता है, इसलिये इनको चाहिये कि अपने आचरण को दृढ रखकर, प्रेम पूर्वक इसके साधन मिलाते हुए समाधिमरण के संमुख होवें। भगवन् उमास्वामी तत्वार्थ सूत्र में कहते हैं—

मारणांतिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२–७ ॥ [तत्त्वार्थ]

अर्थ—मृत्यु के समय पर होने वाली सल्लेखना को सेवन करे, मृत्यु के समय काय और कषाय को क्रम से कृश करते धर्म ध्यान में सावधान रहकर प्राणों के त्याग करने को सल्लेखना कहते हैं। ग्रहस्थों को यह परमोपकारी शुभ गति का कारण रूप सर्वोत्तम व्रत भी प्रीति पूर्वक सेवन करना चाहिये। भगवन समंतभद्र स्वामी कहते हैं—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निः प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥ १२२ ॥ [रत्न करण्ड श्रा.]

अर्थ—उपसर्ग कहिये अग्नि जल वायु आदि की आपत्ति आजाने पर, दुष्काल के पड़ने पर बुढ़ापा होने पर या असाध्य रोग हो जाने पर यदि साधन न होवें तो अपने आत्मीक धर्म की रक्षा के लिये शरीर का त्याग करना सो सल्लेखना कही गई है।

सल्लेखना आत्मघात नहीं है—

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में भगवन् अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं—

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम् ।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसा प्रसिद्ध्यर्थम् ॥ १७६ ॥

अर्थ—हिंसा के कारण कषाय भावों को जहां कम किया जाता है, वहीं ही अहिंसा धर्म की वर्द्धक सल्लेखना होती है, इसमें आत्मघात का दोष नहीं है। आत्मघात का दोष वहां आता है कि जहां कषाय सहित मरण होवे। यह शरीर धर्म साधन का सहायक है, इसलिये जब तक आत्मिक धर्म सधे तबतक इसकी रक्षा करना योग्य है, और जब इसकी रक्षा में पड़ने से अपना धर्म डूबता है तब इसको तुरन्त ही छोड देना योग्य है।

श्री चामुण्डराय चारित्रसार में कहा है (पृष्ठ २३ छाया)—बाह्यस्य कायस्याभ्यंतराणां कषायाणां तत्तत्कारणहापमया क्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना। उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि निःप्रतिक्रियायां धर्मार्थं तनुस्त्यजन् सल्लेखना। ततो नित्यप्रार्थितसमाधिमरणो यथाशक्तिप्रयत्नं कृत्वा शीतोष्णाद्युपश्लेपे सति तपस्थो यथा शीतोष्णादौ हर्षविपादं न करोति, यथा सल्लेखनां कुर्वाणः शीतोष्णादौ हर्षविपादमकृत्वा स्नेहं रागं वैरादिकं परिग्रहं च परित्यज्य विशुद्धचित्तः स्वजनपरिजने क्षन्तव्यं निःशल्यं च प्रियवचनैर्विधाय विगतमानकषायः कृतकारितानुमतमेनः सर्वं समालोच्य गुरौ महाव्रतमामरणमारोप्य रतिदैन्यविषादभयकालुष्यादिकमपहाय सत्त्वोत्साहमुदीर्य श्रुतामृतेन मनः प्रसाद्य क्रमेणाहारं परिहाय ततः स्निग्धपानं तदनन्तरं खरपानं तदनुचोपवासं कृत्वा गुरोः पादमूले पञ्चनमस्कारमुच्चारयन् पञ्चपरमेष्ठिनां गुणान् स्मरन् सर्वयत्नेन तनुं त्यजेदियं सल्लेखना संयतस्यापि।

अर्थ—बाह्य तो काय का और आभ्यंतर कषायों के निमित्त कारणों का क्रम से कृश करना इसही का नाम सल्लेखना कहा है। उपसर्ग परिषह आने पर या दुर्भिक्ष कहिये अकाल पडने पर, जीने में संशय होने पर, धर्म रक्षार्थ शरीर को छोड देना ही सल्लेखना कहलाती है। व्रतियों के व्रत धारण करने का फल समाधि मरण होता है। व्रती पुरुष हमेशा यही भावना करता है कि मेरी समाधि सम्यक् प्रकार कब होजावे। हमेशा यथाशक्ति प्रयत्न करता ही रहे, शीत उष्ण धूप वर्षा की परीषह सहता ही रहे, शीत उष्ण में हर्ष विषाद नहीं करे। शांति पूर्वक सल्लेखना की तरफ ही जिसका ध्येय बना रहे, किसी से हर्ष विषाद स्नेह वैर हो तो उसे छोड देता है, और परिग्रह का परित्याग कर देता है, अपने चित्त को शांति पूर्वक रखता है। स्वजनों और परिजनों को शांत कर देता है, और जिन बातों की शल्य होती है, उनकी भी निवृत्ति कर लेता है, और सबको मधुर प्रिय वचनों से संबोधन करके, या किसी से मान कषाय होगई हो तो उसको कृत कारित अनुमोदना सहित छोड देता है, और गुरुओं के पास अणु व्रतों से महाव्रत धारण करता है। दैनिक विषाद भय कलुषपना जो पहले हुआ होवे, उनको आलोचना

पूर्वक छोड़ देता है। उत्साह के साथ श्रुत (शास्त्र) के अनुसार अपने मन को साधता है, क्रम से चार प्रकार के आहार को जैसी शक्ति होवे वैसे ही क्रम से छोड़ता रहे। उसमें भी पहिले स्निग्ध को छोडे पश्चात् खर (रूखे सूखे) नीरस को छोडे अर्थात् फिर उपवास धारण करे। गुरु के पादमूल में पञ्च नमस्कार मन्त्र को तथा अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय व साधु के गुणानुवाद का स्मरण कर या धारण कर सर्व यत्न से अपने शरीर को कृश करके शरीर को सल्लेखना रूप छोड देता है। इसी को यति सल्लेखना भी कहते हैं।

सल्लेखना धारी के कर्त्तव्य

रत्नकरंड श्रावकाचार में भगवन् समंत भद्र कहते हैं—

> अन्तक्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते ।
> तस्माद्यावद्विभवं, समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥ १२३ ॥
> स्नेहं वैरं संगं, परिग्रहं चापहाय शुद्धमना ।
> स्वजनं परिजनमपि च, क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥ १२४ ॥
> आलोच्य सर्वमेनः, कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजं ।
> आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ॥ १२५ ॥
> शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा ।
> सत्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥ १२६ ॥
> आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम् ।
> स्निग्धं च हापयित्वा, खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥ १२७ ॥
> खरपानहापनामपि, कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या ।
> पंचनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥ १२८ ॥

अर्थ—मृत्यु के समय की क्रिया का सुधरना, यानी काय और कषाय को कृश करके सन्यास धारण करना ही तप का फल है, ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है। सब से राग, द्वेष, वैर को छोड़े, यानी शान्ति के साथ इनसे संबंध छोड़ देवे, और परिग्रह रूपी पिशाच को दूर कर देवे,

स्वजन परजन सबसे मिष्ट वचनों के साथ क्षमा करावे, और आप स्वयं क्षमा कर देवे । मायाचार छल कपट रहित होकर कृत कारित अनुमोदना से किये हुए सर्व पापों की आलोचना करके मरण पर्यंत के लिये पांचों पापों (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह) को सर्वथा त्याग देवे और महाव्रतों को धारण करे । इसके अलावा शोक, भय, ग्लानि, चिन्ता कालुष्य, अरति जुगुप्सा का भी त्याग कर देवे, तथा अपने बल एवं उत्साह को प्रगट कर शास्त्र रूपी अमृत से अपने मन को आनन्दित करे, यानी तत्त्वज्ञान के अनुभव में लग जावे ।

कषायों को ज्ञान से कृश करते हुए शरीर को कृश करने के लिये क्रम से, पहिले भोजन को त्यागे, केवल दूध या मट्ठा (छाछ) को ही लेवे, बाद में उसको भी छोडता हुवा, कांजी या गर्म जल को ही पीते रहना, फिर शक्ति को संभाल कर उस गर्म जल को भी छोड दे, खूब प्रयत्न के साथ श्री पंचपरमेष्ठी के चरणों में ध्यान को लगावे और पंच नमस्कार मंत्रको जपता हुवा शरीर का त्याग करे, यानी शरीर को छोड़े।

यह अनुभव योग्य बात है कि अहार पान को शनैः २ घटावे, एकदम नहीं, जिससे किसी प्रकार की कषाय या आकुलता पैदा न हो । इससे शान्त परिणामों को काफी मदद मिलती है जिससे मरण समय में उत्साह रूप परिणाम बढता रहे, सो ही सल्लेखना है ।

अगर अपनी शक्ति होवे तो सर्व परिग्रह रूप फांसी को त्यागकर मुनियों के समान नग्न दिगम्बर होकर चटाई पर आसन लगाकर बैठे, या लेट जावे और आत्म स्वरूप में अपने चित्त को लगाके शान्ति रक्खे, कदाचित् ऐसा नहीं कर सके तो, आवश्यक कपडे वर्तन रखकर शेष का त्याग करे ।

कहने का मतलब है कि जो शक्ति को न छिपावे, वही पुरुष समाधि को धारण कर सकता है । जघन्य रूप से इस प्रकार भी कर सकते हैं कि अपनी शक्ति के अनुकूल एक एक दो दो व चार चार दिन के प्रमाण से भोजन का त्याग व परिग्रह का त्याग करे, यदि इस प्रकार करते करते जीवित रह जावे तो फिर अपनी शक्ति अनुकूल त्याग व्रत को संभाल लेवे ।

ऐसे समाधि मरण के अधिकारी सामन्यतया गृहस्थ लोग भी हो जाया करते हैं, परन्तु गृहस्थपने के प्रपञ्चों से अलग यानी दूर रहे । जहां एकान्त स्थान होवे वहां चार साधर्मी भाइयों का संबंध रक्खे, सो वे साधर्मी भाई शास्त्रों को सुनावें और उपदेश भी देवें जिससे परिणाम वैराग्य रूप परिणति में स्थिरीभूत रहें । स्वजन या परिजन तथा चेतन अचेतन पदार्थों का संबंध हरगिज न मिलावे, जिससे मोह विकार से बचे । शक्ति को नहीं छिपाकर आचरण करे । यदि शक्ति ही वेदनायुक्त होवे तो लेटा लेटी करता रहे, परन्तु पंच नमस्कार मंत्र के जाप्य को हरगिज भी न विसारे, स्वयं जपे या दूसरों से सुनता रहे, शक्ति अनुसार उस पर ध्यान देकर अर्थ विचारता रहे जिससे अशुभाश्रव रुके और धर्म भावना दृढ बनी रहे ।

पांच प्रकार का शुद्धि विवेक

सागार धर्मामृत के अष्टम अध्याय में पं० आशाधरजी कहते हैं कि सल्लेखना शुद्धि पूर्वक होती है । वे शुद्धि विवेक ये हैं—

शय्योपध्यालोचनान्नवैयावृत्त्येषु पंचधा ।
शुद्धिस्यात्दृष्टिधीवृत्तविनयावश्यकेषु वा ॥ ४२ ॥
विवेकोऽक्षकषायाङ्गभक्तोपधिषु पञ्चधा ।
स्याच्छय्योपधिकायान्नवैयावृत्यकरेषु वा ॥ ४३ ॥

अर्थ—शय्या और संयम के साधन उपकरण, आलोचना, यथा अन्न और वैयावृत्ति में तथा अंतरंग दर्शन, ज्ञान, चारित्र, विनय और छह (सामायिकादि) आवश्यकों में शुद्धि रखना चाहिये, इन पांचों बातों का पूरा विवेक रक्खे ।

इन्द्रिय विषय, कषाय, शरीर भोजन और संयम के उपकरण में, तथा शय्या परिग्रह, शरीर अन्न और वैयावृत्ति में पूर्णरीति से विवेक रक्खे ।

इस प्रकार विधि पूर्वक समाधि मरण करने वाले क्षपक को चाहिये कि वह समाधि मरण के जो अतिचार होते हैं, उनको बचावे । अब उन अतिचारों को कहते हैं—

समाधिमरण के अतिचार और उनका स्वरूप

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागं सुखानुबंधमजन् ।
सनिदानं संस्तरगश्चरेच्च सल्लेखना विधिना ॥ ४५—८ ॥ [सागर धर्मामृत]

अर्थ—सांथरे पर आरूढ हुवा व्यक्ति—१ जीने की आशंका २ मरने की आशंका ३ मित्रानुराग ४ सुखानुबन्ध ५ निदान बंद नामके अतिचारों को भी त्यागता हुवा, सल्लेखना की विधि सहित प्रवृत्ति करे । आगे इनका पृथक् २ खुलासा करते हैं ।

१ जीविताशंसा—यह शरीर अवश्य हेय है, जल के बुदबुद के समान अनित्य है, इत्यादि बातों को स्मरण नहीं करते हुए "इस शरीर की स्थिति कैसे कायम रहेगी" ऐसे शरीर के प्रति आदर भाव को जीविताशंसा कहते हैं, अथवा पूजा विशेष देखकर व खूब वैयावृत्ति देखकर, सब से अपनी प्रशंसा सुनकर मन में यह मानना कि चार प्रकार का आहार त्याग करके भी मेरा जीवन कायम रहे तो बहुत अच्छा है, क्योंकि यह सब उपरोक्त विभूति मेरे जीवन के ही निमित्त से हो रही है । इस प्रकार के जीवन की आकांक्षा को जीविताशंसा नामका अतिचार कहते हैं ।

२ मरणाशंसा—रोगों के उपद्रव की आकुलता से प्राप्त जीवन में संक्लेश वाले के मरण के प्रति उपयोग को लगाना, यह मरणाशंसा नामा अतिचार है, अथवा जब मरण करने वाले पुरुष ने चार प्रकार के आहार का त्याग कर दिया है, और कोई उसका पूजा पूर्वक आदर नहीं करता, किसी प्रकार की उस की श्लाघा नहीं करता है, उस समय उसके अन्त. करण में ऐसे भावों का पैदा होना कि मेरा शीघ्र मरण हो जावे तो बहुत अच्छा है, ऐसे विविध प्रकार के परिणामों के होने को मरणाशंसा नाम का अतिचार कहते हैं।

३ सुहृदनुराग—बाल काल के अपने मित्रों के साथ हमने ऐसे ऐसे खेल खेले हैं, हमारे अमुक मित्र विपत्ति पडने पर सहायता करते थे, अमुक मित्र हमारे उत्सवों में तत्काल उपस्थित होते थे, इस प्रकार बाल मित्रों के प्रति अनुराग भावों का पुनः पुनः स्मरण करना सुहृदनुराग नाम का अतिचार है।

४ सुखानुबन्ध—मैंने ऐसे भोग भोगे हैं, मैं ऐसी शय्याओं पर सोता था, मैं ऐसा खेल खेलता था इत्यादि प्रकार से प्रीति विशेष का पुनः पुन' स्मरण करना सुखानुबन्ध नामका अतिचार है।

५ निदान—इस सुदुश्चर तप के प्रभाव से मुझ को भावी जन्म में इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, राजा महाराजा सेठ, श्रीमान्, धीमान् आदि पद की प्राप्ति होवे, ऐसे भविष्य में अभ्युदय प्राप्ति की वाञ्छा को निदान नामा अतिचार कहते हैं।

इस प्रकार के समाधिमरण के अधिकारी, पुरुष और स्त्री, दोनों हुवा करते हैं, जो कि देश व्रती होवे। मुनि आर्यिका के समाधि मरण का निरूपण प्रथम अध्याय के अनगार धर्म में विस्तार से कर चुके हैं। यहां भी जो सामान्य वर्णन किया है वह सब आर्ष ग्रन्थों के आधार से किया है।

देश व्रती और श्राविकाएं भी मुनिवार समाधिमरण करसकती हैं

देश व्रती श्रावक भी सर्व परिग्रह को छोडकर मुनि रूप नग्न दिगम्बर होकर शरीर त्याग करे ऐसा सिद्धान्तों में कथन मिलता है। श्राविकाओं के लिये भी साधन प्रौढ हों तो वे भी एकान्त स्थान में समाधिमरण मुनि तुल्य होकर कर सकती हैं, रोक नहीं है, परन्तु एकान्त स्थान हो। जहां पर पुरुष लोगों के आने जाने योग्य कार्य न हो। कारण-स्त्री जाति लज्जा परिषह सहने में असमर्थ हुवा करती है।

शव को कैसे लेजाया जाय

मरण के पश्चात् जो शरीर रहता है उसको शव कहते हैं। उसके लिये जैसा उस व्यक्ति ने नियम लिया हो वैसा ही उसके मरण

में उत्सव करना, न कि शोक करना। धन्य है उस पुरुष को जिसने दुर्लभ समाधि मरण किया। खयाल रहे जैसा अवसर प्राप्त हो वैसा विमान बनाकर शव को निकाले या चकडोल बनावे या सादा तौर उत्सव करे। किसी बात का सिद्धान्त हो सो तो है नहीं, परन्तु समाधि मरण का उत्सव और हर्ष जरूर होना चाहिये, जिससे दूसरे धर्मात्मा भी इस कार्य के लिये प्रयत्न करने को प्रस्तुत होवें और धर्म की विशेष प्रभावना होवे।

ऐसा अवसर प्राप्त नहीं होवे तो जिस देश मे जैसा रिवाज है वैसा ही करे, परन्तु व्रतियों के लिये मरण समय की क्रिया यानी विधि दूसरे प्रकार की हुवा करती है सो भी यहां दिखाई जाती है ताकि अनुभव में रहे।

व्रतियों के मरण समय की क्रिया—

मृतक शरीर को प्रेत भी कहते हैं। प्रेत को रखकर श्मसान में लेजाने के वास्ते एक सुशोभित विमान यानी पालकी बनवावे। उसको घोकली भी कहा करते हैं, इसको नये वस्त्रों से सुशोभित कर देवे, और उसके ऊपर उस मुर्दे यानी प्रेत को ठीक तौर से रखे, जिससे वह गिरने नहीं पावे। मुर्दे के गिरने से बड़ी हानि मानी है, और हानिकारक बात है ही। फिर उस विमान को योग्य अपनी जाति के चार पुरुष अपने कंधे पर धर कर श्मसान भूमि की तरफ रवाना होवे। ध्यान रहे स्त्री हो या पुरुष हो उसका सिर ग्राम की तरफ रक्खे, पैर श्मसान की तरफ रखते हुए लेजावे, उस शव (प्रेत) यानी मुर्दे को उस विमान में रस्सी से कस देवे, जिससे गिरने का भय मिट जावे।

अग्नि शुद्ध कैसे हो ? दाह क्रिया के मंत्र,

समाधि मरण करने वाला त्यागी होवे या गृहस्थ होवे उनको जलाने के वास्ते होम की हुई अग्नि होना चाहिये। एकसो आठ १०८ दफे मन्त्र पढ़ने से अग्नि शुद्ध हो जाती है, वह मन्त्र इस प्रकार है— ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः सर्व शान्ति कुरु कुरु स्वाहा।

सामान्य तीन वर्ण या शूद्र वर्ण के लिये वह अग्नि कार्य में लेलेना योग्य है कि जिससे गृहस्थ लोगों के घर का कार्य होता होवे।

कन्या या विधवा मरे तो उसके लिये ऐसी अग्नि काम में लाई जावे जोकि पांच दफे दर्भ को रखकर काष्ठ द्वारा अग्नि सुलगाई गई हो।

श्मसान में जिस समय उस मुर्दे को लेजाया करते हैं, तब आधी दूर पहुँचने पर मुर्दे को ठहरा देते हैं और वहां पर उस मुर्दे के मुख के ऊपर पानी छींट दिया करते हैं।

काष्ठ से चिता रचते समय ऐसा मन्त्र पढना चाहिये ॐ ह्रीं ह्रः काष्ठ संचयं करोमि स्वाहा इस प्रकार पढ़ते रहें, लकड़ी चुनते जावें और धरते जावें।

पश्चात् मुर्दे को उस चितापर सुला देवे, उसका मन्त्र ॐ ह्रीं ह्रौ क्ष्रौ असि आउसा काष्ठे शवं स्थापयामि स्वाहा।

फिर उस चिता मे अग्नि लगावे और चिता पर घृत डाले उसका मंत्र ऊँ ऊँ ऊँ रं रं रं रं अग्नि सन्धुक्षणं करोमि स्वाहा।

फिर खूब घृत और चंदनादिक द्रव्य डाल देवे, जिससे वह अग्नि खूब जोर से जगकर उस मुर्दे को (शवको) शीघ्रता पूर्वक जला देवे, जब मुर्दा सर्व प्रकार से ठीक २ जल जावे, तब स्नान करने के लिये जाते वक्त, उस मुर्दे को जलाने वाला या उस मृतक के कुटुम्बी जन उस चिता की प्रदक्षिणा करके स्नान के लिये निर्वाण (कुआ आदि जलाशय) पर चले जावे।

ध्यान रहे वह रत्नत्रय धारक पुरुष वा स्त्री होवे तो उसका चिह्न स्थापित करना चाहिये।

दूसरे दिन जलाने वाला या मुर्दे के कुटुम्बीजन उस चितापर दुग्ध डाल जावे।

तीसरे दिन चिता की अग्नि को शान्त करे और चिता की तमाम भस्मी को एक ऐसे स्थानपर क्षेपण करे कि वह वर्षात में बह जावे।

दाह क्रिया करने वाले का कर्त्तव्य—

मुर्दे को जलाने वाले पुरुष को चाहिये कि वह चौदह दिनतक और कुटुम्बी जन बारह दिनतक ब्रह्मचर्य व्रत और शील संयम से रहे और बारह भावनाओं का चिंतवन करते रहे। उस मुर्दे के शरीर को जलाया है उसमें अनेक प्राणी मन सहित सैनी जीव जलाये गये, उनका पश्चात्ताप पूर्वक प्रतिक्रमण करता रहे, और ध्यान स्वाध्याय विचार आदि में रहे। वह देव पूजन शास्त्रों की स्वाध्याय, गुरुओं की उपासना नहीं करे, देशान्तर नहीं जावे, जमीन पर सोवे, दिन में एक दफे ही भोजन करे, जितने दिन हैं सो सब धर्म ध्यान से व्यतीत करें। दाह क्रिया के अधिकारी कुटुम्बी जन हुवा करते हैं, अगर कुटुम्बी नहीं होवे तो कोई भी इस क्रिया को कर सकता है।

तेरहवें दिन भक्ति पूर्वक पात्रों को दान देना योग्य है। अगर उत्तम पात्र प्राप्त नहीं होवे तो सामान्य साधर्मी भाइयों को भोजन करावे, ऐसा भी कई ग्रन्थों में लिखा है।

★ इस प्रकार श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज,
★ द्वारा विरचित संयम-प्रकाश नामक ग्रंन्थ के उत्तरार्द्ध की पञ्चम ★
★ नैष्ठिक साधकाधिकार नामक पंचम किरण समाप्त हुई ★

इस प्रकार श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज द्वारा विरचित संयम–प्रकाश नामक सम्पूर्ण महाग्रंथ दस किरणों में निर्विघ्न समाप्त हुआ।

.·. ॐ शान्तिः .·.

इति श्रीमद् दिगम्बर जैनाचार्य १०८ श्री सूर्यसागरजी महाराज विरचित

संयम प्रकाश नामा सम्पूर्ण ग्रंथ

दश अधिकारों में समाप्त हुआ

मुद्रक—

भँवरलाल जैन, न्यायतीर्थ,

श्री वीर प्रेस, मनिहारों का रास्ता, जयपुर।